Jiwan-Yajna.

जीवन-यज्ञ

०

लेखक

श्री रामनाथ 'सुमन'

Ram Nath 'Suman'

०

प्रकाशक

साधना-सदन

६६, लूकरगंज

इलाहाबाद

दो रुपये

प्रथम मुद्रण, सितम्बर, १९४५

सुमनजी की अन्य पुस्तकें

आनन्द-निकेतन	२॥)
घर की रानी	१।)
भाई के पत्र	२)
वेदी के फूल	।।।)
हमारे नेता	१।।।)
कन्या	१।)
कविप्रसाद की काव्यसाधना	३)
कविरत्न मीर	२)

मुद्रक : श्रीगिरिजाप्रसाद श्रीवास्तव, हिन्दी साहित्य प्रेस, प्रयाग।

देश के जाग्रत गुरुजनों

तथा

उनके सम्पर्क और आशीर्वाद की छाया में

पलने वाले उच्चजीवन के आकांक्षी

युवकों को

श्रद्धा और प्रेम की एक भेंट ।

लेखक

निवेदन

जीवन एक यज्ञ है—एक यज्ञ, जिसकी अग्नि सदैव प्रदीप्त, सदैव प्रकाशित रहनी चाहिए। पर आज भारतीय जीवन निम्नतल पर होने के कारण अपनी श्रेष्ठ शक्तियों एवं संभावनाओं के प्रति मूर्च्छित होने के कारण, उच्च आदर्शों एवं कर्तव्यों को भूल गया है, उसमें निराशा और असफलता की भावना भर गई है। प्राण शक्ति लुप्त हो गई है। आशा, साहस, ज्ञान, चारित्र्य का जीवन में अभाव है। यज्ञ की अग्नि बुझ गई है और धुएँ से जीवन उद्विग्न है।

यह स्थिति सहन न की जानी चाहिए। यदि देश के शिक्षाक्रम में ऐसी रचनाएं सम्मिलित की जायँ जो जीवन की कठिनाइयों एवं संघर्षों के बीच हमें बल दें, हमारा मानस आशा और आत्मविश्वास से भर दें, हमें ज्ञान की ज्योति दें पर साथ ही मार्ग में अग्रसर करने के लिए जीवन को आवश्यक ताप—गर्मी—भी प्रदान करें तो अगणित युवकों का जीवन उच्चतर मनोभूमिकाओं पर प्रतिष्ठित किया जा सकता है; उनके जीवन-स्वर में दृढ़ता आ सकती है। आज हमें ज्ञान की आवश्यकता है, पर उस ज्ञान की नहीं जो हमें अकर्मण्य, निराश, जीवन से दूर भागनेवाला बनाये, हमें उस ज्ञान की आवश्यकता है जिसका मूल वृक्ष की भांति सत्य की भूमि के नीचे से रस ग्रहण करके जीवन के आकाश में पल्लवित, पुष्पित और फलित हो; आज हमें ऐसी विद्या की आवश्यकता है जो हमारे सुषुप्त ओज को जाग्रत कर हम में साहसिकता की वृत्तियाँ जगा दे; जो अपने जीवन को उठाने, आत्मोन्नति करने के साथ ही दूसरों की सेवा, दूसरों के कष्ट-निवारण, समाज को एक उच्चतर, कल्याणकर स्थिति पर पहुँचाने के कार्य की ओर भी प्रेरित करे। यह चिन्ता की बात है कि हमारे साहित्य में आज जीवन की ओजस्वी वाणी, उसकी मंगलमयी धारणा और तदनुकूल विचारधारा का अभाव है। उसमें निराशा और पीड़ा का स्वर भर गया है। यह ठीक है कि हमारी

कठिनाइयाँ अनेक हैं, यह ठीक है हमारा जीवन कष्टों एवं संघर्षों से पूर्ण है; यह भी मैं मानता हूँ कि साहित्य इस जीवन की छाया से बच नहीं सकता पर जहाँ साहित्य जीवन की छाया है, अभिव्यक्ति है तहाँ वह प्रकाशदाता, मुक्तिदाता भी है, वह जीवन के चित्र ही नहीं देता; उसे प्रेरणा और बल भी देता है—देना चाहिए।

यह पुस्तक इसी दृष्टि से प्रस्तुत की जा रही है। आशा है कि यह कठिनाई की घड़ियों में हमारी आशा को जाग्रत रखेगी; दुःस्वप्नों में हमें प्रकाश देगी और जीवन-मार्ग पर चलते हुए हमारे पाँव सीधे रखेगी।

इसमें कुल २१ निबन्ध हैं। निबन्धों का चुनाव इस दृष्टि से किया गया है कि वे (१) जीवन का लक्ष्य निर्धारित करने में सहायक हों; (२) जीवन के परम लक्ष्य तथा व्यावहारिक आदर्शों दोनों को प्राप्त करने के लिए जिन सद्गुणों एवं मानसिक रचना की आवश्यकता होती है, उन पर प्रकाश डालें, जीवन को बल और प्रकाश दें तथा वह मनःस्थिति उत्पन्न करें जिन्हें प्रत्येक क्षेत्र में जीवन का आधार बनाया जा सकता है; (३) सच्ची विद्या और शिक्षण-शैली की प्रेरणाएँ जाग्रत करें, (४) व्यक्ति और समाज की प्रकृति तथा पारस्परिक सम्बन्धों पर प्रकाश डालें; (५) भारत देश, भारतीय संस्कृति तथा उसकी धारणाओं एवं प्रतीकों की महत्ता प्रकट करें और हमें अपने गौरव के प्रति कर्तव्यशील बनावें। आरम्भ के दस निबन्ध पहले दूसरे, ग्यारह से चौदह तक तीसरे, पन्द्रह से सत्रह तक चौथे और शेष पाँचवें तात्पर्य की पूर्ति करते हैं।

हमें आशा है कि पुस्तक देश के युवकों और छात्रों के जीवन में प्रवेश करेगी और हमारे शिक्षाधिकारियों तथा गुरुजनों का आशीर्वाद इसे प्राप्त होगा।

—श्री रामनाथ 'सुमन'

एक निवेदन

"विरोध और खंडन करने के लिए इसे मत पढ़ो; न इस पर विश्वास करके इसे ज्यों का त्यों मान लेने के लिए इसे पढ़ो; विवाद के लिए भी इसे मत पढ़ो; केवल तौलने और गंभीरतापूर्वक विचार करने के लिए इसे पढ़ो"

—बेकन

पुस्तक में यह है

पृष्ठ

जीवन-यज्ञ

असतो मा सद्गमय

तमसो मा ज्योतिर्गमय

मृत्योर्मा अमृतं गमय

असत् से सत् की ओर ले चल

अन्धकार से प्रकाश की ओर ले चल

मृत्यु से अमृत की ओर ले चल

*　　　　*

"प्रभो, मुझे अपनी शान्ति का साधन बना। द्वेष की जगह मुझे प्रेम के बीज बोने दे; अत्याचार के बदले में क्षमा, सन्देह के बदले विश्वास, निराशा के स्थान पर आशा, अन्धकार की जगह प्रकाश, और विषाद की भूमि में आनंद निर्माण करने की शक्ति मुझे प्रदान कर।"

"भगवन्, दया करके मुझे यह शक्ति दे कि किसी को मेरी सान्त्वना की आवश्यकता ही न पड़े। लोग मुझे समझें, इसकी जगह मैं ही उन्हें समझूं; इसके बजाय कि लोग मुझे प्यार करें मैं ही उन्हें प्यार करना सीखूं। क्योंकि देने में ही वह निहित है, जो हमें प्राप्त होता है। क्षमा करने से ही हम क्षमा के पात्र बनते हैं और आत्मोत्सर्ग में ही चिरन्तन जीवन का मार्ग है।"

—संत फ्रांसिस

जीवन का लक्ष्य

संध्या समय किसी नगर के बाजार में एक चौरस्ते पर खड़े हो जाइए। आप देखेंगे, प्रत्येक आदमी अपनी धुन में कहीं चला जा रहा है। यदि आप इन शीघ्रता से अपना मार्ग तय करते हुए आदमियों में से एक के आगे, रास्ता रोक कर, खड़े हो जायँ और पूछें कि वह कहाँ जा रहा है तो वह आपको किंचित आश्चर्य और सन्देह के साथ देखेगा, क्रोध और घबराहट की एक हलकी रेखा उसके मुख पर होगी, सम्भव है, वह आपको घुड़क दे, या एक व्यंगमिश्रित मुस्कान से आपका स्वागत करने के बाद, बिना उत्तर दिये ही अपना रास्ता ले। सभ्यता किसी अपरिचित के साथ ऐसे व्यवहार की आशा नहीं करती।

पर जीवन के जन-संकुल चौरस्ते पर खड़ा होकर मैं आप से पूछता हूँ—आप कहाँ जा रहे हैं। आपके जीवन का लक्ष्य क्या है? यदि यह असभ्यता हो तो भी मैं आपसे इसका उत्तर चाहता हूँ।

अगणित आदमियों से मैं ने यह प्रश्न किया है, और यह देखकर चकित रह गया हूँ कि कदाचित् ही दो-चार ने इसका समुचित उत्तर दिया हो। कुछ सुनते हैं पर सुनते हुए भी न सुनने का नाट्य करते हैं; कदाचित् इसी आत्म-पलायन की ओट में उनका जीवन सम्भव है। कुछ सुनते हैं, एक क्षण ठहर कर एक व्यंगभरा अट्टहास करते हैं और चले जाते हैं, मानो कहते हों, ऐसा सवाल भी कोई करता है! कुछ उत्तर देने की जगह विवाद में उलझ जाते हैं।

जन-संकुल मार्ग वैसा ही जन-संकुल बना रहता है। लोग आते हैं और जाते हैं। सड़क का सुहाग अचल है। जीवन की गति को एक क्षण के लिए

विश्राम नही है। और यह प्रश्न है कि चौरस्ते पर ही खड़ा है, और सबसे अपना उत्तर चाहता है!

* * *

सचमुच यह कुछ असाधारण प्रश्न लगता होता पर जीवन में इससे सामान्य प्रश्न और क्या होगा। स्टेशन के प्लेटफार्म पर टहलते हुए किसी यात्रोन्मुख व्यक्ति से आप पूछें कि आप कहाँ जाँयगे और वह उत्तर दे कि मुझे मालूम नहीं, या अभी मैंने निश्चय नही किया, या मैं सोच रहा हूँ कि किधर जाऊँ तो आप उसकी ओर यों देखेंगे, जैसे उसका सिर फिर गया है। पर कैसे आश्चर्य की बात है कि आप स्वयं जीवन में उसी का अनुगमन कर रहे हैं। कदाचित् स्टेशन पर तो आपको एक भी यात्री ऐसा न मिले जो जानता न हो कि उसका लक्ष्य क्या है, उसे जाना कहाँ है पर जीवन के मार्ग में आपको ऐसे सैकड़ों, हज़ारों मिलेंगे जो अपने लक्ष्य, अपने गन्तव्य, अपनी मंजिल को जाने बिना चले जा रहे हैं, और चले जा रहे हैं।

क्या आपने, कभी इस बात पर विचार किया है कि मानव जीवन का लक्ष्य क्या है, और आपने अपने लिए जीवन की क्या मंजिल चुनी है ? आज हम आपके साथ इसी को स्पष्ट कर लेना चाहते हैं।

आनन्द की आकांक्षा मनुष्य में स्वाभाविक है। यह उसकी वृत्ति है। उठते बैठते, चलते, फिरते, कोई भी काम करते हुए मानव आनन्द प्राप्त करने की कामना से प्रेरित है। यह हो सकता है कि वह इसे स्पष्ट समझता न हो, अथवा यह वृत्ति उसमें मूर्च्छित, सुषुप्त हो पर ज्ञान में या अज्ञान में आनन्द की प्राप्ति ही उसकी मूल प्रेरणा है। आनन्द मानव की मूल प्रकृति है। आप पर या हम पर जो भी दुःख, कष्ट, संकट, रोग, शोक आ पड़ते हैं उनसे हम शीघ्र से शीघ्र छूटना चाहते हैं क्योंकि यह दुःख हमारी मूल प्रकृति से मेल नही खाता; वह हमारी प्रकृति पर एक आरोप, एक आवरण है, जैसे बादल

प्रकाश को निगल जाते हैं और अँधेरा हो जाता है।

उपनिषद् में ऋषि कहते हैं:—"आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति।" अर्थात् आनन्द ब्रह्म है, यह जाना। (क्योंकि) आनन्द से ही ये सब प्राणी उत्पन्न होते हैं। उत्पन्न होने पर आनन्द के द्वारा ही जीवित रहते हैं, और प्रयाण करते समय आनन्द में ही समा जाते हैं।"

आत्मा चिर-आनन्दमय है इसलिए जहाँ दुःख है, शोक है तहाँ उसके अस्तित्व की अनुभूति भी नहीं है। इसी आत्मा को लेकर मानव प्राणियों में श्रेष्ठ है। इसीलिए आत्मज्ञान हमारे यहाँ जीवन का मुख्य कर्तव्य है।

आप कहेंगे, किसी को मदिरापान में भी आनन्द आता है, दूसरे को दूसरों का अपकार करने में, तीसरे को ऐसे किसी कार्य में, जिसे नीतिशास्त्र अवाञ्छनीय मानता है। फिर आनन्द ही मानव का लक्ष्य हो तब तो खाओ, पिओ, मौज करो। यह तो जड़वादियों या भोगवादियों की बात हुई।

परन्तु आप विचार करेंगे तो यह समस्या हल हो जायगी। जिस कार्य से क्षणिक आनन्द का आभास हो पर परिणाम दुःख हो, रोग हो, शोक हो, संघर्ष और कष्ट हो वहाँ आनन्द नहीं है। किसी अवाञ्छनीय कार्य में भी आनन्द की क्षणिक अनुभूति से केवल इतना ही सिद्ध होता है कि कर्ता की मूल प्रकृति आनन्दमयी है। दुःख और असत् में भी आनन्द और सत् का जो थोड़ा सा अंश प्रच्छन्न है उसी कारण यह आनन्द का आभास है। फिर भी कोई भ्रम न हो इसलिए कहा जा सकता है कि निरतिशय आनन्द की प्राप्ति ही जीवन का लक्ष्य है—ऐसे आनन्द की प्राप्ति जो अक्षय है, जिसका कोई अन्त नहीं है।

क्या आप जीवन के इस लक्ष्य की ओर जा रहे हैं? क्या आप में उसके लिए उत्कट अभिलाषा जाग्रत हुई है? क्या आप को अपने मार्ग पर चलते

हुए इसका ध्यान है कि रास्ता आपके गन्तव्यस्थान की ओर ही गया है। क्या आपका जीवन आनन्द, उत्साह, उमङ्ग, स्फूर्ति और संकल्प से भरा है? क्या प्रत्येक प्रातःकाल अपना शयन-कक्ष त्याग कर बाहर जीवन के नियुक्त कार्य को आरम्भ करते समय आपके मुख पर उस बालारुण की आशा और प्रकाश है जिसके आगमन के साथ ही सुषुप्त जगत् जाग उठता है?

यदि नहीं तो मैं कहूँगा कि आपका जीवन लक्ष्यहीन है, आप अपनी यात्रा में नहीं हैं बल्कि मार्ग में इधर-उधर भटक रहे हैं। आप लक्ष्य को बिना जाने, बिना लक्ष्य स्थिर किये ठीक दिशा में कैसे चल सकते हैं?

एक दिन ऋषि ने, अपना हृदय शब्दों में उँडेलकर प्रार्थना की थी—

असतो मा सद्गमय
तमसो मा ज्योतिर्गमय
मृत्योर्मा अमृतं गमय।

अर्थात्

मुझे असत्य से सत्य की ओर ले चल
अन्धकार से प्रकाश में ले चल
मृत्यु से अमृत में ले चल।

हजारों कण्ठों से अगणित बार इसकी आवृत्तियाँ हुई होंगी। कदाचित् आपने भी इसे दोहराया हो, सुना हो या कहीं पढ़ा हो। पर क्या आपने कभी सोचा भी है कि इन शब्दों के पीछे ही जीवन का रहस्य छिपा है? ये शब्द चिल्लाकर जिस माग और जिस लक्ष्य की ओर इशारा करते हैं, उनका भी आपने विचार किया है। सीधे-सादे शब्द, सीधे ढंग से अपनी बात कहते हैं। वे मार्ग भी बताते हैं और लक्ष्य भी। प्रत्येक पद के आरम्भ में बताया गया है कि हम कहाँ है, और उत्तर भाग में बताया गया है कि हमें कहाँ जाना है। यही निरतिशय आनन्द की, असत् से सत् की, अन्धकार से प्रकाश की ओर

मृत्यु से अमृत—अमरता—की यात्रा हमारा कर्तव्य और लक्ष्य है।

आपने कदाचित् इस लक्ष्य की ओर ध्यान न दिया होगा। आप में से कोई अध्यापक, कोई वकील, कोई व्यापारी, कोई उद्योगपति, कोई अन्वेषक बनना चाहते होंगे। इसमें कोई अनौचित्य नहीं। यह व्यक्ति का निजी या विशिष्ट लक्ष्य है। आपको अपने इस विशिष्ट लक्ष्य से हटने की आवश्यकता नहीं पर एक शर्त है। आपका यह विशिष्ट लक्ष्य, मानव जीवन के उस सामान्य लक्ष्य की ओर प्रधावित होना चाहिए जिसकी चर्चा ऊपर की गई है। जीवन की गहराई में, किसी बिन्दु पर, किसी तल पर दोनों लक्ष्यों को मिलना होगा। जैसे परिधि केन्द्रबिन्दु से दूर दिखने पर भी उससे अभिन्न है, उसी का विस्तार है, वैसे ही मानव का निजी, विशिष्ट लक्ष्य सामान्य लक्ष्य—निरतिशय आनन्द, सत्य, प्रकाश और अमृत की साधना—के प्रति उन्मुख होना चाहिए। तभी आप में शक्ति का अधिष्ठान होगा, तभी आप में विद्युत् की धारा प्रवाहित होगी।

आपके सामने जीवन का सामान्य और विशिष्ट लक्ष्य स्पष्ट होना चाहिए। अधिकांश व्यक्ति सामान्य लक्ष्य तो भूल ही गये हैं पर उन्होंने अपना कोई विशिष्ट लक्ष्य भी नहीं बनाया है। स्कूल या कालेज में पढ़ने वाले छात्र प्रायः अपना कोई विशिष्ट लक्ष्य निर्धारित किये बिना ही पढ़ते जाते हैं। उनमें जीवन-निर्माण का कोई संकल्प नहीं होता, जीवन में वे 'चांस' या संयोग पर निर्भर करते हैं। विचारक विनोबा ने एक स्थान पर इस मनोवृत्ति का बहुत सुन्दर चित्र इस प्रकार दिया है :—

मैट्रिक के एक विद्यार्थी से पूछा—"क्यों जी, तुम आगे क्या करोगे ?"

"आगे क्या ? आगे कालेज 'ज्वाइन' करूँगा।"

"ठीक है। कालेज में तो जाओगे। लेकिन उसके बाद ? यह सवाल तो बना ही रहता है।"

"सवाल तो बना रहता है। पर उसका अभी से विचार क्यों किया जाय? आगे देखा जायगा।"

बाद को तीसरे साल उसी विद्यार्थी से वही सवाल पूछा।

"अभी तक कोई विचार नहीं हुआ।"

"विचार हुआ नहीं सही, पर विचार किया था क्या?"

"नहीं साहब, विचार किया ही नहीं। क्या विचार करें? कुछ सूझता ही नहीं। पर अभी डेढ़ वर्ष बाकी है। आगे देखा जायगा।"

'आगे देखा जायगा'—ये वही शब्द हैं जो तीन वर्ष पहले कहे गये थे। पर पहले की आवाज़ में बेफिक्री थी, और आज की आवाज़ में थोड़ी चिन्ता की झलक।

फिर डेढ़ वर्ष पर उसी प्रश्नकर्त्ता ने उसी विद्यार्थी से—अथवा कहो 'गृहस्थ' से वही प्रश्न पूछा। इस बार चेहरा चिन्ताक्रान्त था। आवाज़ की बेफिक्री बिल्कुल गायब थी। 'ततः किं? ततः किं? ततः किं?' यह शंकराचार्य का पूछा हुआ सनातन सवाल अब दिमाग़ में कसकर चक्कर लगाने लगा था। पर पास जवाब था नहीं।

यह जीवन की बड़ी दूषित प्रणाली है। हमें जो बनना है, उसका निश्चय पहले होना चाहिए। निश्चय ही नहीं, उसका स्पष्ट चित्र हमारे सामने होना चाहिए। और उसी के अनुकूल हमारे सम्पूर्ण प्रयत्न होने चाहिएँ। तिल-तिल करके मनुष्य अपने को गढ़ता है पर यदि साँचे का ही पता न हो तो वह क्या गढ़ेगा? हमारे सारे प्रयत्न लक्ष्य की दिशा में ले जाने वाले होने चाहिएँ। यह सोचना कि पढ़ने के बाद लक्ष्य चुन लेंगे बिल्कुल गलत तरीका है। मानव जीवन का प्रत्येक क्षण इतना मूल्यवान है कि अनिश्चय और भ्रम में उसे नष्ट करना अक्षम्य अपराध है। सामान्य लक्ष्य के साथ ही प्रत्येक मनुष्य के जीवन का एक विशिष्ट लक्ष्य होता है। यह उसी के जीवन में

समाया हुआ है—जैसे दूध में घी छिपा होता है। मनुष्य का प्रथम कर्त्तव्य यह है कि वह अपने नियुक्त कर्त्तव्य को, अपने जीवन के रहस्य को, अपने निजी लक्ष्य को स्पष्ट कर ले। जीवन-संग्राम में विजय पाने के लिए, असफलता शोक, दुःख, सुस्ती, निराशा दूर कर प्रकाश के मार्ग में चलने के लिए सब से पहली आवश्यकता इसी बात की है कि अपने जीवन के प्रच्छन्न तात्पर्य, लक्ष्य या गन्तव्य स्थल का निश्चय कर लो। और तब आनन्द की साधना में जीवन के विशिष्ट लक्ष्य की पूर्ति में, लग जाओ।

———

लक्ष्य-वेध

जिस व्यक्ति ने अपना एक लक्ष्य निश्चित कर लिया है, उसने अपने जीवन की एक बड़ी कठिनाई दूर कर दी है। अनिश्चय, भ्रम, भेद और सन्देह से वह ऊपर उठ जाता है। तब उसके सामने केवल एक प्रश्न होता है, लक्ष्य-वेध कैसे होगा, जीवन के उद्देश्य की सिद्धि कैसे होगी।

संसार के मनीषियों और कर्मठ पुरुषों ने लक्ष्यवेध के अनेक उपाय बताये हैं। एक-एक बात पर लम्बे भाष्य और वक्तव्य हमें प्राप्त हैं। पर जीवन में सफलता का, लक्ष्यवेध का एक मंत्र ऐसा है जो कभी निरर्थक नहीं हुआ, और जिसमें अन्य सम्पूर्ण तत्वों का समावेश हो जाता है। हमारे कोश में एक छोटा सा शब्द है—तन्मयता। यह छोटा-सा शब्द ही जीवन में लक्ष्य-वेध या कार्य-सिद्धि का मूलमंत्र है।

तन्मयता का अर्थ है कि जो लक्ष्य है उसी से आप भर जायँ। उसी में लीन हो जायँ। वह फैलकर आपके सम्पूर्ण जीवन और कार्य की प्रत्येक दिशा को ढक ले। सोते-जागते, उठते-बैठते, चलते-फिरते, प्रत्येक क्रिया में, केवल वह लक्ष्य आपको दिखे, चारो ओर वही वह हो। आपका समस्त ध्यान उसी में केन्द्रित हो। उससे अलग आपका जीवन असम्भव हो जाय।

इस तन्मयता की बात करते हुए इतिहास की दो घटनाएँ याद आरही हैं। पहली घटना महाभारत काल की है। आचार्य द्रोण राजकुमारों को बाण-विद्या सिखा रहे थे। समय पर शिक्षा समाप्त हुई और राजकुमार आचार्य के समीप अन्तिम परीक्षा के लिए एकत्र हुए। आचार्य उन्हें एक बनस्थली में ले गये और एक वृक्ष के ऊपर बैठी चिड़िया की आँखों की पुतली के लक्ष्यवेध का निश्चय हुआ। आचार्य ने सबको निशाना ठीक करने को कहा और तब एक

छोटा-सा प्रश्न किया—

"तुम्हें क्या दिखाई देता है?"

किसी ने कहा, वह वृक्ष की पतली टहनी है; उस पर लाल रंग की चिड़िया बैठी है, उसकी आँख दिखाई दे रही है। किसी ने कहा, मुझे चिड़िया दिखाई देती है और उसकी आँख में मैं निशाना लगा रहा हूँ। मतलब किसी ने कुछ उत्तर दिया, किसी ने कुछ, पर सब को अनेक पदार्थ दिखते रहे और उनके बीच में लक्ष्यवेध की तत्परता भी दिखाई पड़ी। जब अर्जुन की बारी आई और आचार्य ने उनसे वही प्रश्न दोहराया तो उन्होंने कहा—

"गुरुदेव, मुझे सिवाय आँखों की पुतली के और कुछ दिखाई नहीं देता है!"

आचार्य ने शिष्य की पीठ ठोंकी और आशीर्वाद दिया। अर्जुन परीक्षा में सफल हुए।

*　　　*　　　*

दूसरी घटना अपेक्षाकृत नई है। यह मरहठा इतिहास की एक घटना है। सिंहगढ़ की विजय का दृढ़ संकल्प करके मराठों ने उस पर आक्रमण किया। कमन्द की सहायता से वे सिंहगढ़ पर चढ़ गये। घोर युद्ध हुआ। युद्ध में उनका नेता ताना जी मारा गया। उसके मारे जाते ही मराठों की सेना हिम्मत हार कर भागने लगी और जिस रस्से के बल चढ़कर ऊपर आई थी उसी के सहारे नीचे उतरने का इरादा करने लगी। ताना जी के छोटे भाई सूर्या जी ने जब यह देखा तो जाकर चुपके से रस्से का किले की ओर वाला सिरा काट दिया। और जब मराठे उधर भागे तो चिल्लाकर बोला—"मराठो, भागते कहाँ हो! वह रस्सा तो मैंने पहले ही काट डाला है।" जब मराठों ने देखा कि निकल भागने का कोई उपाय नहीं है तब सब ओर से ध्यान हटा कर, अपने लक्ष्य में तन्मय हो गये, और सब कुछ भूल कर ऐसा लड़े कि सिंहगढ़ विजय कर लिया।

दोनों घटनाएँ स्वयं अपनी बात कहती हैं। अर्जुन की उस परीक्षा के बाद हजारों वर्ष बीत गये हैं। पर आज भी जीवन की परीक्षा में कोटि-कोटि मनुष्यों के सामने आचार्य द्रोण का वही प्रश्न उपस्थित है—'तुम्हें क्या दिखाई देता है?' इस प्रश्न के उचित उत्तर पर ही जीवन की सिद्धि निर्भर है। मानव जीवन की सफलता—असफलता की यह एक चिरन्तन कथा है। यह लक्ष्यवेध का एक ही उपाय बताता है—लक्ष्य में तन्मयता। जहाँ साधक लक्ष्य में तन्मय है, जहाँ उसे और कुछ दिखाई नहीं देता है, जहाँ वह सब कुछ भूल गया है; अपने को भूल गया है, अपने चारों ओर के ध्यान बँटाने वाले पदार्थों को भूल गया है, लक्ष्य है. और लक्ष्य है, और कुछ नहीं, तहाँ लक्ष्यवेध निश्चित है।

दूसरी घटना भी, प्रकारान्तर से, वही बात कहती है। जब तक लक्ष्य से निकल भागने का एक मार्ग आपने रख छोड़ा है; जब तक रस्सा काट कर पीछे लौटने की सम्पूर्ण सम्भावनाओं का अन्त आपने नहीं कर दिया है, जब तक लक्ष्य से मन को इधर उधर हटाने वाला एक भी साधन आपने बचा रखा है तब तक लक्ष्यवेध नहीं होगा।

एक दूसरे प्रसंग में, ब्रह्म-साधना के लिए, ऋषि उपनिषद् में कहते हैं—

"वही सत्य है, वही अमृत है। हे सौम्य! उसका मनोनिवेश द्वारा वेधन करना चाहिए। तू उसका वेध कर।"[1]

फिर कहते हैं—

"महास्त्र धनुष लेकर उसपर उपासना द्वारा तीक्ष्ण किया हुआ बाण चढ़ा; फिर उसे खींच कर लक्ष्य में चित्त को भावानुगत करके (लक्ष्य में

---

[1] तदेतत्सत्यं तदमृतं तद्वेद्धव्यं सोम्य विद्धि॥

तन्मय होकर) उस अक्षर (कभी नाश न होने वाले) लक्ष्य का वेध कर।"[१]

आगे फिर कहते हैं—

"प्रणव धनुष है, आत्मा बाण है और ब्रह्म उसका लक्ष्य कहा जाता है। प्रमादहीन होकर (अर्थात् सावधानी के साथ) उसका वेध करना चाहिए और बाण के समान तन्मय हो जाना चाहिए।[२]

इन सब में एक ही बात दोहराई गई है कि लक्ष्य में चित्त को केन्द्रित करके लक्ष्यवेध करो। 'शरवत्तन्मयो भवेत्'—बाण के समान तन्मय होना चाहिए। धनुष से छूटने वाला बाण वायुमंडल में यहाँ—वहाँ नहीं घूमता, वह अपने चतुर्दिक के पदार्थों से नहीं उलझता, वह दायें-बायें, ऊपर, नीचे नहीं देखता। वह जिस क्षण छूटता है उसी क्षण से अपने लक्ष्य में केन्द्रित होता है। उसका लक्ष्य एक है, उसकी दिशा एक है। वह सीधा जाकर अपने लक्ष्य में मिल जाता है।

कुतुबनुमा की सुई की भाँति एक दिशा और एक लक्ष्य में केन्द्रित होना ही उद्देश्यसिद्धि का उपाय है। स्वेट मार्डेन ने ठीक ही लिखा है कि 'कुतुबनुमा की सुई की नोक आकाश में चमकने वाले किसी तारे की ओर नहीं झुकती, वह केवल एक प्रकाश की ओर ही ताकती है। उसे कौन अपनी ओर खींचने का प्रयत्न नहीं करता ? सूर्य उसे चकाचौंध करता है ; पुच्छल तारे दूसरे मार्गों की ओर संकेत करते हैं; छोटे-छोटे तारागण उसकी ओर देखकर झिलमिल झिलमिल चमकते हैं और उसकी प्रीति को बाँटना चाहते हैं। परन्तु अपने लक्ष्य के प्रति उन्मुख, अपनी वृत्ति की सच्ची सुई भूलकर भी

---

१ धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरं ह्युपासानिशितं सन्धयीत।
आयम्य तद्भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि॥

२ प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥

दूसरे की ओर नहीं देखती। सूर्य का प्रकाश होता है, तूफान उठते हैं, सब कुछ होता है परन्तु उसका मुँह ध्रुवतारा की ओर ही रहता है। इसी तरह हमारे जीवन के मार्ग में दूसरे सैकड़ों प्रकाश हमें अपने मार्ग से बहका देने के लिए चमकेंगे और प्रयत्न करेंगे कि हमें अपने कर्तव्य और सत्य से डिगा दें पर हमें चाहिए कि अपने उद्देश्य की सुई को ध्रुवतारे की ओर से कभी न हटने दें।

मन की सम्पूर्ण चेतना को, इच्छा शक्ति को किसी एक कार्य, दिशा या लक्ष्य में केन्द्रित कर देना ही, तन्मयता है। यह गहरी एकाग्रता की स्थिति है। इस स्थिति में साधक से लक्ष्य के अन्तर का लोप हो जाता है। लक्ष्य हमारे निकट आ जाता है, हम में समा जाता है। साधन अथवा साधक और लक्ष्य की एकता वा अभिन्नता की अनुभूति से आत्मविश्वास और शक्ति की अक्षय धारा फूटती है। अन्तःकरण की छिपी हुई शक्तियाँ ऊपर उमड़ती हैं और सम्पूर्ण दुर्बलताओं का अन्त हो जाता है।

संसार में चतुर्दिक असीम शक्तियाँ छिपी और बिखरी हुई हैं। एकाग्रता से उन्हें प्रत्यक्ष किया जा सकता है। जब हम सूर्य की किरणों को किसी आतशी शीशे के सहारे एक कागज के टुकड़े पर केन्द्रित करते हैं तो वह जल उठता है। जल में प्रच्छन्न विद्युत् को कुछ साधनों से केन्द्रित करके बड़े-बड़े कारखाने चलाये जाते हैं। शक्ति पहले भी वहाँ रहती है पर बिखरी होने से वह बेकार है। एकाग्र करके उससे संसार को हिलाया जा सकता है। वैज्ञानिकों का कथन है कि एक एकड़ भूमि की घास में इतनी शक्ति बिखरी हुई होती है कि उसके द्वारा संसार की सारी मोटरों और चक्कियों का संचालन किया जा सकता है। केवल उस शक्ति को एक भाप के इंजिन के 'पिस्टन राड' पर केन्द्रित करने की आवश्यकता है। परन्तु बिखरे होने के कारण वह अनुपयोगी हो रही है। इसी प्रकार हजारों लाखों आदमी हैं जिनमें शक्ति बिखरी

पक्षी है परन्तु एक बिन्दु में केन्द्रित न होने के कारण उनके लिए वह व्यर्थ है। वे कभी अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकते।

एकाग्रता और तन्मयता से अद्भुत् कार्य किये जा सकते हैं। मानसिक दृष्टि से भी तन्मय होकर कार्य करने का आनन्द कुछ और है। इसमें मनुष्य प्रति क्षण अपने आदर्श के सान्निध्य से ओज और शक्ति प्राप्त करता रहता है। वह निरनायासपूर्वक उमंगों की तरंगों पर तैरता हुआ अपने लक्ष्य की ओर बढ़ता है। उसे कोई श्रम, सन्देह या शिकायत नहीं होती। निश्चित गति से वह आदर्श या लक्ष्य को अपने निकट आता हुआ देखता है। एकाग्र होकर कार्य करनेवाला आदमी कभी असफल नहीं होता—वस्तुतः वह समर्पित होकर कार्य करता है और उसमें ही उसे इतना आनन्द मिलता है, उसमें ही उसे प्रत्येक पग पर लक्ष्य-वेध की ऐसी अनुभूति होती है कि फल की उसे चिन्ता ही नहीं रह जाती।

व्यावहारिक दृष्टि से भी देखें तो एकाग्र और तन्मय होकर काम करनेवाला जितना कुछ कर पाता है, बिखरा हुआ, चंचल मनुष्य उससे बहुत कम कर पाता है। एस० टी० कालरिज के विषय में कहा जाता है कि उसकी मेधा-शक्ति प्रबल थी; वह उच्च बौद्धिक शक्तियों से सम्पन्न था पर उसने जीवन में एकाग्र और तन्मय होकर कभी काम नहीं किया। उसके सामने न तो जीवन का कोई निश्चित उद्देश्य था, न निश्चित कार्यक्रम। वह सदा अनिश्चितता के वातावरण में रहता था। कभी एक काम छेड़ता, कभी दूसरा। कभी एक पुस्तक लिखना आरम्भ करता, पर थोड़ी लिखने के बाद उसे छोड़ देता और दूसरी में हाथ लगाता। इस अनिश्चय और चंचलता के वातावरण ने उसका समस्त जीवन-सत्त्व चूस लिया। वह बहुत कुछ करना चाहता था पर कुछ न कर सका। प्रतिदिन एक नया निश्चय करता था और उसके अनुसार काम आरम्भ होने के पूर्व ही या थोड़ा सा कार्य करके छोड़ देता था। अन्त में हृदय

में असफलता के दंश का अनुभव करते हुए एक दिन वह संसार से विदा हो गया। मृत्यु के उपरान्त उसके पढ़ने-लिखने के कमरे की खोज की गई तो उसके काग़ज़-पत्रों में लगभग चालीस हज़ार निबन्ध निकले। सब दर्शन और मनोविज्ञान से सम्बन्ध रखने वाले थे। पर दुःख की बात यह है कि सब अधूरे थे। इसमें एक भी पूरा न था। एक को शुरू करता कि थोड़ी देर बाद दूसरे विषय पर लिखने की इच्छा होती थी। एकाग्रता का आनन्द और उसकी शक्ति का रहस्य उसने कभी न जाना। फलतः एक महती प्रतिभा व्यर्थ गई और संसार उसकी शक्ति और ज्ञान से कोई लाभ न उठा सका, वह स्वयं अपने लिए भी, उससे कोई काम न ले सका।

संसार में काम करनेवाले बहुत हैं; काम को बोझ समझकर करने वाले और भी अधिक हैं पर लक्ष्य के प्रति समर्पित होकर, उससे एकनिष्ठ होकर काम करने वाले बहुत थोड़े हैं। पर ये थोड़े से मनुष्य ही हैं जो संसार को हिला देते हैं; जो अपनी एकाग्रता से जीवन में सफलता प्राप्त करते हैं। आप अपने लिए जो भी लक्ष्य चुनिए, उसमें अपने मन और शरीर, अपनी सम्पूर्ण चेतना, अपनी सम्पूर्ण शक्तियों को केन्द्रित कर दीजिए। वह और आप एक हो जाइए। दुनिया को भूल जाइए, अपने को भूल जाइए, केवल लक्ष्य का दर्शन कीजिए और तब उसे वेध लीजिए। संसार आपका है, जीवन आपका है, सफलता आपकी है।

आशा और आत्मविश्वास

आशा आत्मा का गुण है; निराशा विकारग्रस्त मन का। गांधी जी कहा करते हैं कि आशावाद आस्तिकता है। निराश व्यक्ति नास्तिक है। जो आस्तिक है, जिसे ईश्वर की शक्ति में विश्वास है, जो हृदय से विश्वास रखता है कि जगत् के प्रत्येक कार्य और योजना के पीछे एक अर्थ, एक तात्पर्य, एक महती शक्ति है वह निराशा को अपने निकट नहीं आने देगा। फिर जहाँ लक्ष्य के प्रति तन्मयता है, एकाग्रता है तहाँ निराशा का आभास भी नहीं है।

आत्मविश्वास आत्मा के प्रति गहरी निष्ठा का अंश है। मनुष्य जितना ही आत्मनिष्ठ होता है उसका आत्मविश्वास उतना ही बढ़ता है। आशा में फलासक्ति है; आत्मविश्वास में अन्तर्दर्शन है। आशा जीवन-वृक्ष की लताओं पर फैली फूलों की सुगंध है; आत्मविश्वास पृथ्वी के अन्तराल में दूर तक फैला हुआ वृक्ष-मूल है, जिससे वृक्ष खड़ा है, जिससे उसका अस्तित्व है, और जिसके कारण वृक्ष के समस्त शरीर में रस और जीवन दौड़ता है। जीवन के अन्तःस्रोत की भाँति।

मैंने ऊपर कहा है कि मनुष्य ज्यों-ज्यों आत्मनिष्ठ होता है त्यों-त्यों उसमें आत्मविश्वास सजग और दृढ़ होता है। इसमें कोई जटिल बात नहीं कही गई है। विचार करने से प्रत्येक व्यक्ति जान सकता है कि उसकी सत्ता शरीर से अलग भी है। आखिर आप क्या हैं। क्या आप १०० या १५०पौंड का मांस-हड्डी रखने वाले मात्र हैं? क्या आप अमुक नामधारी या अमुक जाति के या अमुक स्थान के निवासी मात्र हैं? ऐसा कौन मनुष्य है जिसने न कहा हो—यह मेरा शरीर है। फिर आप वह हैं जिसका शरीर पर आधिपत्य है, स्वामित्व है। प्रति दिन

आप अनेक बार 'मैं' शब्द का उच्चारण करते होंगे। पर क्या आपने कभी विचार किया है कि यह 'मैं' जो शरीर, मन, देश, काल, नाम, रूप और जाति के परिचय के बाद भी बच रहता है, क्या है ?; वह जो शरीर का स्वामी है, मन का स्वामी है, जिसके कारण आपका, नाम-रूपादि का परिचय सम्भव है, वही आत्मा है। जो मनुष्य जानता और समझता है, अनुभव करता है कि वह शरीर मात्र नहीं है; उसकी शक्ति का मूल स्रोत शरीर नहीं है, वह शरीर से बँधा होकर भी वस्तुतः शरीर से बँधा नहीं है वही आत्मनिष्ठ है। आत्मा के अस्तित्व के प्रति इसी सजगता से आत्मविश्वास का विकास होता है।

जिस मनुष्य ने मानव जीवन के लक्ष्य को हृदयंगम कर लिया है और उसके अनुकूल जीवन का एक विशिष्ट लक्ष्य चुन लिया है, जो अपने लक्ष्य में तन्मय है, उसके प्रति अर्पित है उसका हृदय सदा आशा से पूर्ण होता है; उसमें प्रबल आत्मविश्वास की ज्योति होती है। वह जानता है कि मैं तुच्छ नहीं हूँ, अपदार्थ नहीं हूँ; मेरे पीछे असीम शक्तियाँ हैं; मैं बैठ नहीं सकता, रुक नहीं सकता, मुझे अपना नियुक्त कार्य करना है और मैं उसे कर के रहूँगा।

अँग्रेजी कवि गोल्डस्मिथ ने लिखा है कि आशा लघु दीपक के उस झिल-मिल प्रकाश की भाँति है जो मार्ग को अलंकृत और आनन्दपूर्ण कर देता है, और ज्यों-ज्यों रात अधिकाधिक अँधेरी होती है त्यों-त्यों उससे उज्ज्वलतर प्रकाश-किरणें फूटती हैं।*

सचमुच आशा जीवन का दीपक है। ऐसा दीपक, जो ज्यों-ज्यों कठि-नाइयाँ बढ़ती हैं, अंधकार बढ़ता है, परिस्थितियाँ जटिल होती हैं त्यों-त्यों

---

* Hope, like the glimmering taper's light,
Adorns and cheers the Way,
And still the darker grows the night,
Emits a brighter ray.

अधिक प्रकाश देता है। उसकी बत्ती आत्मा के भीतर फैली हुई वहाँ से बराबर स्नेह का दान प्राप्त करती रहती है। यह स्नेहदान कभी चुकता नहीं, इसलिए दीपक के कभी बुझने का कोई डर नहीं। जिसके हृदय में आशा का दीपक जल रहा है, वही सुखी है। सब प्रकार की समृद्धि, तत्वतः, एक मानसिक स्थिति है। स्थूल समृद्धि का आरम्भ भी पहले मन में ही होता है, उसकी जड़ें पहले मन में फैलती हैं और बाद में पृथ्वी पर पल्लवित होती हैं। आशा ही आपको वह बना सकती है जो आप बनना चाहते हैं। यात्री का मुख सदा लक्ष्य की ओर होता है; और जिस ओर मुँह होता है उसी ओर वह जाता है। जिसके लिए आप में दृढ़ आशा होगी, उसी की प्राप्ति का दृढ़ निश्चय भी होगा और उसे ही आप प्राप्त करेंगे। कभी निराशा को, निषेधात्मक भावना को मन में न आने दीजिए। इससे शक्ति का ह्रास होता है। इस भाव को कभी बलवान न होने दीजिए कि आप में अमुक कार्य करने, अमुक लक्ष्य तक पहुँचने की शक्ति का अभाव है। आप कभी न भूलिए कि आप क्षुद्र बन्धनों से ऊपर उठने के लिए हैं, आप में आत्मा की असीम शक्तियाँ छिपी पड़ी हैं। इस आत्म-विश्वास को उभरने दीजिए कि सत्य असत्य पर विजयी होगा—आप को सफलता मिलेगी, आप अवश्य वह बनेंगे जो बनना चाहते हैं। यह विश्वास कीजिए कि आप भी वैसे ही हैं, जैसे होना चाहते हैं, जैसा आपका आदर्श है। आप में भी वही शक्ति, वही प्रकाश, वही प्रतिमा, वही गुण हैं। आत्मविश्वास उस बिजली की मोटर के समान है जो यंत्र को गति देता, उसे संचालित करता है। जब तक भूमि, जल, वायु और सूर्य की रासायनिक शक्तियाँ वनस्पतियों पर अपना रासायनिक प्रभाव डालती रहती हैं तभी तक उनका जीवन है, उनका विकास है। इसी प्रकार आशा और आत्मविश्वास में अद्भुत् जीवनदायी रासायनिक तत्व भरे पड़े हैं। संशय वह विष है जो हमारी मूल शक्ति-स्रोत को सुखा देता है; निराशा वह आग है

जो हमारी शक्तियों को जला देती है। दुनिया में एक भी व्यक्ति ऐसा न मिलेगा जिसको अपनी आत्मा में, अपने में विश्वास होते हुए भी जीवन में सुख और सफलता न प्राप्त हुई हो, जब ऐसे हजारों व्यक्ति मिलेंगे जिनमें योग्यता और शक्ति होते हुए, निराशा और आत्मविश्वासशून्यता के कारण, जीवन अत्यन्त हीन तल पर रुक कर सूख रहा है।

जो मनुष्य निर्भय होकर, कह सकता है कि मैं अवश्य अपने लक्ष्य को प्राप्त करूँगा, मुझमें उसे प्राप्त करने की शक्ति है, वही उसे प्राप्त करेगा। 'मैं इस कार्य को करूँगा' हृदय से निकलने वाले इस वाक्य में अद्भुत् शक्ति भरी हुई है। हममें चाहे जितनी योग्यता हो, जितनी शक्ति हो पर इस योग्यता और शक्ति का सञ्चालन यदि अविचल आत्म-विश्वास के द्वारा न किया जायगा तो सम्पूर्ण शक्ति व्यर्थ जायगी। जहाँ आत्मविश्वास नहीं है तहाँ सम्पूर्ण सृजनात्मक शक्तियाँ पंगु हैं। निराशा और आत्मविश्वासशून्यता के कारण ही बड़े-बड़े वीरों ने युद्ध में कन्धे डाल दिये हैं; और उनके जीवन का समस्त कार्य नष्ट हो गया है।

कोलम्बस एक सामान्य नाविक था पर उसमें अद्भुत आत्मविश्वास था। उसने यह निष्कर्ष निकाला कि पृथ्वी गोल है। लोग उसकी बातें सुन-कर हँसते थे और उसकी बातों को धर्म-विरुद्ध कहते थे। यही कोलम्बस भारत की खोज में निकला और अमेरिका का पता लगा लाया। जब वह भारत की खोज में रवाना होने को तैयार हुआ तो कोई नाविक साथ जाना नहीं चाहता था। अज्ञात की इस यात्रा में, जहाँ मृत्यु का भय स्पष्ट दिखाई पड़ता था और सफलता की आशा बहुत कम थी, कौन उसका साथ देता? राजा और रानी के दबाव पर मुश्किल से कुछ लोग तैयार हुए। बेड़ा रवाना हुआ। चलते-चलते महीनों बीत गये पर कहीं जमीन का कोई निशान नहीं। साथी नाविक, जो कोलम्बस के पागलपन पर पहले ही से चिढ़े हुए थे, बिगड़

गये। उन्होंने जहाज खेना बन्द कर दिया और कोलम्बस को मार डालने की धमकी दी। बोले—'यदि तुमने चूँ भी की तो हथकड़ी पहनाकर जहाज की कोठरी में डाल देंगे।' बहुत समझाने बुझाने पर नाविक कुछ दिन तक और जहाज खेने को तैयार हुए। महासागर में, जहाँ भयंकर लहरें, चारों ओर अनन्त जलराशि, बिगड़े हुए साथी थे, कोलम्बस का सहारा उसका दृढ़ आत्मविश्वास था। उसकी आँखों में एक नई दुनिया का स्वप्न भरा था; तूफान आये, सहसा एक मस्तूल खराब हो गया। कुछ दूर आगे, केनरीज द्वीप के २०० मील पश्चिम, ध्रुवयंत्र बिगड़ गया। पर कोलम्बस किसी कठिनाई के कारण अपने लक्ष्य से विरत नहीं हुआ। उसके सामने एक ही लक्ष्य, एक ही स्वप्न, एक ही आशा थी। इसी के सहारे वह आगे बढ़ता गया। आगे बढ़ने पर उसे झाड़ियों की कुछ लकड़ियाँ तैरती दिखाई दीं। और आगे आकाश में कुछ पक्षी उड़ते दिखाई पड़े। उसका स्वप्न सत्य हो गया। १२ अक्टूबर १४९२ को उसने नई दुनिया की भूमि पर अपना झण्डा गाड़ दिया।

नेपोलियन का जीवन भी ऐसे ही आत्मविश्वास से पूर्ण था। उसकी यह उक्ति बहुत प्रसिद्ध है कि 'मेरे कोश में 'असम्भव' शब्द नहीं है।' कोई कठिनाई उसका दम नहीं तोड़ सकती थी। उसे अपनी शक्ति में दृढ़ विश्वास था। जब उसकी सेना के सामने आल्पस आ पड़ा और साथियों ने कहा, अब क्या होगा, यह पर्वत तो दुर्भेद्य है, तब नेपोलियन हँस कर बोला—'कुछ नहीं, वह हमारे लिए रास्ता कर देगा।' उसकी आज्ञा से लोग काम में जुड़ गये और मार्ग बना दिया गया।

नेलसन ब्रिटेन का प्रसिद्ध सेनापति हो गया है। उसकी विजयों के पीछे भी उसका प्रबल आत्मविश्वास था। नील नदी के युद्ध से पूर्व नेलसन ने सेनानायकों के सामने लड़ाई का नक्शा रखा। बेरी बोल उठा—'यदि हमारी विजय न हुई हो तो दुनिया क्या कहेगी?' नेलसन तमक कर बोला—"यदि? यदि

के लिए हमारे पास कोई स्थान नहीं; जीत निश्चय ही हमारी होगी। हाँ, यह बात दूसरी है कि हमारी विजय की कहानी कहने वाला कोई बचेगा या नहीं।" जब सेनानायक जाने लगे तो उसने आत्मविश्वास भरे शब्दों में फिर कहा—"कल इस समय के पहले ही या तो मुझे विजय प्राप्त हो जायगी या मेरे लिए वेस्टमिनिस्टर गिरजे में कब्र तैयार हो जायगी।" कैसे आत्मविश्वास और आशा के शब्द हैं ये! और अन्त में वे सत्य हुए।

डिजरायली एक गरीब कुटुम्ब में उत्पन्न हुआ था। उसकी चारों ओर निराशा का वातावरण था पर बचपन से ही उसका हृदय आत्मविश्वास से पूर्ण था। उसे अपने ऊपर, अपनी शक्ति पर विश्वास था। वह सोचा करता था कि जब हजारों वर्ष पहले गरीब यहूदी जोसफ मिश्र का प्रधान मंत्री बन गया तो मैं क्यों नहीं बन सकता। उसकी बातें सुनकर लोग हँस देते थे। किसी ने उसे उत्साहित नहीं किया। परिस्थितियाँ उसके प्रतिकूल थीं पर अपने दृढ़ विश्वास के सहारे वह आगे बढ़ता गया। उसका कहना था कि जो बातें एक बार हो चुकी हैं, वे फिर घटित हो सकती हैं। मैं परिस्थिति का गुलाम नहीं हूँ और अपनी शक्ति से बाधाओं को दूर कर सकता हूँ।' दृढ़ आत्म-विश्वास से उसने सचमुच सब बाधाएँ दूर कर लीं और एक लेखक के शब्दों में 'वह छोटे दरजे वालों के बीच से आगे बढ़ा, मध्यम दरजे वालों के बीच से आगे बढ़ा, ऊँचे दरजे वालों के बीच से ऊपर उठा और राजनीतिक तथा सामाजिक शक्ति का मालिक बन बैठा। पार्लमेंट में लोगों ने उसकी हँसी उड़ाई, उसे घृणा की दृष्टि से देखा, अपनी अनिच्छा का प्रदर्शन किया परन्तु उसने केवल यही कहा—'समय आयेगा जब तुम मेरी बात सुनोगे।' और समय आया जब वह भाग्यहीन बालक इंग्लैण्ड का प्रधान मंत्री हो गया और लगभग पच्चीस वर्ष तक ब्रिटिश साम्राज्य का भाग्यविधाता बना रहा।

आत्मनिष्ठ और आत्मविश्वासी व्यक्ति अत्यन्त खतरे और विपत्ति की घड़ी में भी निश्चल रहता है। बड़े-बड़े वीर पुरुष भी समाज के भय से, बहु-मत के भय से जहाँ कन्धा डाल देते हैं, वहाँ भी वह निश्चिन्त रहता है। वह भीड़ की स्वीकृति और तालियों पर निर्भर नहीं करता। परवा नहीं यदि समाज उसे छोड़ दे या उसका बहिष्कार करे, साथी उपहास करें और अलग हो जायँ पर जब तक उसका अन्तर दृढ़ है, जब तक उसमें आत्मविश्वास का प्रकाश है तब तक वह अपने नियुक्त काम को करता ही जायगा। स्वर्गीय रवीन्द्रनाथ ने अपनी प्रसिद्ध कविता 'तवे तुमि एकला चालो रे' में इसी भाव को व्यक्त किया है। भले अन्धकार हो, हाथ सुझाई न देता हो, तूफानी हवाएँ चल रही हों, कण्टकाकीर्ण पथ हो, कठिनाइयाँ उपहास करती हों, साथी बिछुड़ गये हों और तुम्हारी पुकार शून्य में टकराकर रह जाती हो, कोई तुम्हारी पुकार सुनकर न आता हो तब भी तुम अकेले अपने मार्ग पर चलते जाओ। महात्मा गांधी के जीवन की सफलता का रहस्य भी आत्मविश्वास में छिपा है। उन्होंने स्वयं लिखा है—"...इस संसार में, चतुर्दिक अन्धकार के बीच, मैं प्रकाश की ओर जाने का रास्ता टटोल रहा हूँ। प्रायः मैं भूल करता हूँ और मेरे अन्दाज़ गलत हो जाते हैं। मैं इस आशा से रहित नहीं हूँ कि यदि दो ही मनुष्य मेरे साथी रह जायँ, या कोई भी न रहे तो उस हालत में भी मैं कच्चा नहीं निकलूँगा।" आत्मा की शक्ति अनन्त है इसलिए आत्म-निष्ठ व्यक्ति, आत्मविश्वासी अकेला होकर भी अकेला नहीं है। वह एक होकर भी अनेक है।

आत्मविश्वास उन्नति की पहली आवश्यकता है। स्वामी विवेकानन्द ने लिखा है—'आगे बढ़ने के लिए हमें पहले अपने अन्दर और फिर ईश्वर में विश्वास होना ही चाहिए। जिसे अपने में विश्वास नहीं है, उसे ईश्वर में भी विश्वास नहीं हो सकता।' आत्मविश्वास के साथ आत्म-सम्मान का सम्बन्ध

अभिन्न है। जहाँ एक है, वहाँ दूसरा भी है। आत्म-सम्मान के मूल में अपने प्रति ईमानदारी और सच्चाई का भाव है। जो आदमी अपने प्रति ईमानदार है, वही दूसरों के प्रति भी ईमानदार हो सकता है। शेक्सपियर के हेमलेट नाटक में पोलोनियस कहता है—

> "This above all : To thine own self be true,
>
> And it must follow, as the night the day,
>
> Thou canst not then be false to any man".

अर्थात् 'सब से बड़ी बात यह है कि तुम अपने प्रति सच्चे बनो। और जैसे रात के बाद दिन का आना निश्चित है तैसे ही (अपने प्रति सच्चे होने के बाद) तुम किसी भी आदमी के प्रति झूठे नहीं हो सकते।' जो अपना सम्मान करता है, वही दूसरों का भी सम्मान कर सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि लक्ष्य के प्रति तन्मयता के बाद आत्म-विश्वास श्रेष्ठ जीवन के लिए पहली आवश्यकता है। तन्मयता से ही आत्मविश्वास का जन्म होता है। संसार का इतिहास उन लोगों की कीर्तिगाथाओं से भरा पड़ा है जिन्होंने अन्धकार और विपत्ति की घड़ियों में आत्म-विश्वास के प्रकाश में जीवन की यात्रा की और परिस्थितियों से ऊपर उठ गये। उनसे भी अधिक संख्या उन वीरों की है जिन्हें इतिहास आज भूल गया है पर जिन्होंने मानवता के निर्माण में, उसे उठाने में नींव का काम किया है। केवल आत्मविश्वास और आशा के बलपर वे जिये और उसी के साथ उच्च उद्देश्यों के लिए प्राण समर्पण करने में भी न चूके। जैसे तूफान के समय नाविक के लिए दिग्दर्शक यंत्र का उपयोग है वैसे ही जीवन-यात्रा में आशा और आत्म-विश्वास का महत्व है।

प्रत्येक मनुष्य, चाहे वह स्थिति में कितना ही छोटा हो, ऊपर उठ सकता है। प्रत्येक मनुष्य अपनी शक्तियों का विकास कर सकता है। प्रत्येक मनुष्य

अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है अथवा उसे बहुत निकट ला सकता है। आवश्यकता इतनी है कि वह भूल जाय कि वह तुच्छ है, अपदार्थ है, पंगु है—कुछ नहीं कर सकता। निराशा का बीज बड़ा घातक होता है, वह जब कलेजे की भूमि में घुस जाता है तो उसे फोड़कर अपना विस्तार करता है। निराशा के वृश्चिकदंशन से अपने को बचाओ; यह मनुष्य की समस्त उत्पादक शक्तियों का नाश कर देता है। निराशा जीवन के प्रकाश पर दुर्दिन की बदली की तरह छा जाती है। यह आत्मा के स्वर को क्षीण करती है और चेतना के स्थान पर जड़ता, निश्चेष्टता की प्रतिष्ठा करती है। मानव में जो कुछ चेतना, जो आनन्द, जो श्रेष्ठता है, यह मानो उसकी अस्वीकृति है।

मन को आत्मविश्वास से पूर्ण होने दीजिए। आप देखेंगे कि प्रकाश और आनन्द का भाग आप के जीवन में बढ़ता जा रहा है। आप देखेंगे कि जो कार्य आपको कठिन प्रतीत होते थे, वे सरल हो गये हैं; जो समस्याएँ आप को विकल और अस्थिर कर देती थीं वे कोई कठिनाई नहीं उत्पन्न करतीं और जो मार्ग आपको भयावना लगता था वह सुखद हो गया है। और लक्ष्य की सिद्धि से आपको हटा नहीं सकता। आप उसे प्राप्त करके रहेंगे।

महत्वाकांक्षा या उच्चाभिलाषा

महत्वाकांक्षा का साधारण अर्थ है, अपनी वर्तमान स्थिति से ऊँचा उठने की इच्छा। इस परिभाषा के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि यह मानव-मात्र का सामान्य गुण अथवा इच्छा है। संसार में एक भी मनुष्य ऐसा न होगा जो अपनी स्थिति से श्रेष्ठ स्थिति में जाने की इच्छा न रखता हो। कोई गरीबी में पड़ा है तो उससे मुक्ति चाहता है, अपनी आर्थिक स्थिति पहले से अच्छी करना चाहता है, कोई विद्या के क्षेत्र में ऊँचा उठने की कामना करता है; कोई नाम और यश चाहता है। जो बीमार है वह स्वस्थ होने की इच्छा करता है; जो निर्बल है वह बलवान बनना चाहता है। जो बच्चा बोल नहीं पाता, वह बोलना चाहता है; जो चल नहीं पाता वह चलना चाहता है। मनुष्य मात्र अधिक अच्छी स्थिति में जाने की अभिलाषा रखते हैं।

निजी संस्कार, परिस्थिति, वातावरण और मनोदशा के अनुसार महत्वाकांक्षा के अनेक प्रकार हो सकते हैं। एक मनुष्य को अपनी गरीबी से ऊपर उठना है। ऐसा वह ईमानदारी, प्रबल परिश्रम या अध्यवसाय के द्वारा कर सकता है। इसके विरुद्ध संसार में ऐसे आदमी पर्याप्त संख्या में मिलेंगे जो धनार्जन के लिए उचित-अनुचित सब प्रकार के उपायों का अवलम्ब लेते हैं। वे रिश्वत देकर, झूठ बोल कर, अपने साथी व्यवसायियों अथवा सह-क्षेत्रियों को नष्ट करके भी रुपया कमायेंगे। उनके धनार्जन की इस वृत्ति में यदि किसी निर्दोष के साथ अन्याय होता होगा तो कह देंगे—अजी, ऐसा तो होता ही है। उनके धनार्जन के लोभ में कोई गरीब मरता हो तो उन्हें परवा नहीं। 'अब किस किस को देखा जाय।' इसी प्रकार प्रभुता, अधिकार और

यश के लिए भी सब प्रकार के साधनों से काम लेने वाले लोगों से पृथ्वी भरी हुई है।

इसीलिए महत्वाकांक्षा शब्द कभी-कभी अनुचित आकांक्षा के लिए भी प्रयोग किया जाता है। बिना उचित परिश्रम और त्याग के उच्च स्थान पाने की चालबाज़ी जहाँ होती है वहाँ प्रायः इस शब्द का प्रयोग होता है। जैसे—"अरे, वह बड़ा महत्वाकांक्षी है।" पर सच पूछिए तो यह नकली, झूठी महत्वाकांक्षा है। सच्ची महत्वाकांक्षा में भौतिक उन्नति के साथ नैतिक और मानसिक—और इसीलिए एक सीमा तक आध्यात्मिक—उन्नति की आकांक्षा भी सम्मिलित है। महत्वाकांक्षा वस्तुतः उच्चाभिलाषा है। इसमें ऊपर उठने का भाव, तत्वतः, निहित है। जिस इच्छा या कामना से मनुष्य उचित अनुचित का विवेक छोड़ देता है और सब प्रकार के भले-बुरे कर्म करने को उद्यत हो जाता है वह महत्वाकांक्षा नहीं क्योंकि वह उच्चाभिलाषा नहीं। उच्चाभिलाषी का शक्तिस्रोत आत्मिक है। उसमें नैतिक उज्ज्वलता की प्रकाश-किरणों के स्पर्श से विकसित होने वाले हृदय-कमल की सुगंध है। जैसे जगत् की आशारूप बालारुण के मन्द मन्द स्मित से, उसकी गुदगुदाहट से अन्धकार के आवरण उघड़ते हैं और कलियां अपने हृदय-मधु पर से घूंघट उठा देती हैं तैसे ही उच्चाभिलाषा के स्पर्श से मानव-मन का कल्मष धुल जाता है। वह अन्धकार से प्रकाश में, असत् से सत् में, मृत्यु से जीवन में जाने को उद्यत होता है।

अवश्य ही इसका यह तात्पर्य नहीं कि महत्वाकांक्षा या उच्चाभिलाषा केवल आध्यात्मिक हो सकती है: वह भौतिक भी हो सकती है, अर्थात् वह आर्थिक, सामाजिक, शैक्षणिक, शारीरिक, सभी प्रकार की हो सकती है। परन्तु सब के मूल में एक भाव आवश्यक है—अपने लिए भी और दूसरों के लिए भी एक अधिक अच्छे संसार की रचना। जिसमें सच्ची महत्वाकांक्षा

है वह धन उपार्जन करेगा परन्तु दूसरों का अनिष्ट करके नहीं; वह प्रभुता प्राप्त करेगा परन्तु इसलिए नहीं कि शोषितों का शोषण और दलितों का दलन किया जाय बल्कि इसलिए कि इन साधनों द्वारा मानवजाति की सेवा से अधिक सुविधाएँ प्राप्त होती हैं। वह उच्च से उच्च शिक्षा प्राप्त करेगा इसलिए नहीं कि एक बँधी जीविका, एक पेशे में उसका अन्त हो, बल्कि इसलिए कि ज्ञान के आलोक में न केवल वह अपने जीवन-मार्ग का अनुसन्धान करे; वरं दूसरों के तमसाच्छन्न मानस के कपाट भी खोल सके और उन तक भी ज्ञान की ज्योति पहुँचा दे। महत्वाकांक्षा के मूल में व्यक्ति के साथ ही समाज के कल्याण की भावना भी है। अनुभव से मनुष्य ने जाना है कि व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध ऐसा घनिष्ठ है कि एक की उपेक्षा करके दूसरा पनप नहीं सकता; दोनों की उन्नति साथ-साथ होती है; दोनों का पतन साथ-साथ होता है।

जीवन का विशिष्ट, निजी लक्ष्य जितना ऊँचा होता है, उसके प्रति जितनी ही तन्मयता और एकाग्रता होती है, महत्वाकांक्षा भी उतनी ही दिव्य होती है। सच्ची महत्वाकांक्षा में स्वप्न और कल्पना का भी अंश होता है। दुनिया में सदा स्वप्न देखने वालों, बड़ी-बड़ी कल्पनाएँ करने वालों, ऊँची अभिलाषाएँ रखने वालों की हँसी उड़ाई गई है पर वे ही हैं जिन्होंने मानवता को ऊँचे स्तर पर पहुँचाया है, जिन्होंने समाज का संस्कार किया है, जिन्होंने अपार जन-समूहों को दासता की शृंखला से मुक्त किया है। आज दुनिया में जो सुख के साधन हैं उन्हीं के कारण हैं, जो सुविधाएँ हैं उन्हीं के कारण हैं। एक दिन जब पक्षियों को मुक्त आकाश में उड़ते देखकर मनुष्य ने स्वयं भी उड़ने की आकांक्षा की होगी तो 'समझदार' आदमियों ने उसे पागल कहा होगा, उसे स्वयं भी अपने स्वप्न और अपनी इच्छा पर हँसी आई होगी। पर समय बीतता गया है, युग बदलते गये हैं, शताब्दियों पर शताब्दियाँ आई हैं और चली गई हैं किन्तु मनुष्य ने स्वप्न देखना नहीं छोड़ा। वह अपनी कल्पना के

आकाश में उड़ता रहा—उसने कल्पना से परियों की रचना की जिनका सौन्दर्य उनके पंखों पर उड़ता था। उसने अपने चिन्ता-जगत में उड़नखटोलों का आविष्कार किया, हवाई घोड़े बनाये; फिर कल्पना को और सघन एवं ठोस रूप दिया, गुब्बारों में उड़ा; अब आकाश के लम्बे व्यवधान को अपने शक्तिशाली वायुयानों से उसने तुच्छ बना दिया है। हजारों वर्ष पूर्व का स्वप्न सत्य हो गया है और अब भी उसकी प्यास मानों ज्यों की त्यों है : अब वह अन्तरिक्ष के वायुशून्य व्यवधान को पार कर उन नक्षत्रों और ग्रहों को छूना चाहता है जिसकी कल्पना 'मैया मैं चन्द खिलौना लैहों' के रूप में संसार के प्रत्येक शैशव के ऊपर मँडराती रही है। और जिसे 'बौने का चाँद पकड़ना' कहकर लोक-साहित्य की उपहासपूर्ण जिह्वा अपने को सार्थक मानती रही है। पर कल का बौना आज बढ़ गया है और कल विराट होने जा रहा है, और कोई आश्चर्य नहीं कि वह चाँद को पकड़ ले।

प्राचीन काल के योगियों द्वारा हजारों मील दूर एकान्त स्थान से अपने शिष्यों को आदेश करने की बात सुनकर किसने आश्चर्य से दाँतों तले उँगली न दबाई होगी। हमारी श्रद्धा ने उसे मान लिया हो पर बुद्धि ने उस पर प्रश्न-चिह्न लगाने और उसका मखौल उड़ाने का अवसर कदाचित् ही कभी खोया हो पर आज के टेलीफोन और टेलीविजन ने, प्रकारान्तर से, उनके उपहास का बदला ले लिया है। विज्ञान के शत-शत आविष्कारों ने वैज्ञानिकों की कल्पना और शोधशालाओं से निकल कर हमारे गृहों में प्रवेश किया है। वे हमारे गृहों को प्रकाशित करते हैं, हम पर पंखा झलते हैं, हमारे सामने गाते और नाचते हैं, हमें घर बैठे जगत् के समाचार सुना जाते हैं; हमारे मित्रों और सम्बन्धियों को हमारे निकट लाते हैं। आप बिजली का स्विच—बटन—दबाते हैं और पंखा नाचने लगता है, प्रकाश हँसने लगता है और रागिनी थिरकने लगती है। आप टेली-

फोन का डायल घुमाते हैं, 'हलो राम' और मित्र से बातें करने लगते हैं पर आपने क्या कभी इस पर विचार किया है कि इनमें से एक-एक सुविधा के पीछे वर्षों की कल्पना, वर्षों के स्वप्न और प्रायः जीवनव्यापी अध्यवसाय का इतिहास छिपा है। कभी-कभी एक-एक कल्पना की आराधना में कितने ही मूल्यवान प्राणों की बलि चढ़ानी पड़ी है। क्या ये सब कार्य सच्ची महत्वाकांक्षा के बिना सम्भव थे ? एक-एक रोग को विजय करने में कितने ही जीवन, कितने ही आत्मस्फूर्त्त यौवन की भेंट देनी पड़ी है। क्या यह सब केवल क्षुद्र स्वार्थ या निजी लाभ की भावना से सम्भव हुआ है ? जब मिश्र से फैलते-फैलते हैजा पैरी में फैला और दो-दो सौ आदमी रोज मृत्यु के ग्रास होने लगे तब लुई पास्चर से शान्त न बैठा रहा गया, वह अपने अन्य अनुसन्धानों को छोड़ इस रोग पर विजय पाने में लग गया। खाना पीना भूल गया। एक मित्र ने समझाया कि वह अपने को भयानक खतरे में डाल रहा है और इस तरह वह भी इसी महामारी की भेंट हो जायगा, तब पास्चर ने हँसकर इतना ही कहा—"पर कर्त्तव्य क्या है ?" और अपने कार्य में तन-मन से लग गया। इसी बीच उसके पिता की मृत्यु हो गई; उसकी दो छोटी लड़कियाँ चल बसीं। पर उसने अपना कार्य न छोड़ा। उसने अनेक प्रकार के कीटाणुओं का अध्ययन किया, अनेक रोगों पर विजय प्राप्त की। उसके आविष्कारों के कारण प्रति वर्ष लाखों व्यक्तियों के प्राण बचते हैं। मानव जाति के इस उपकारी के हृदय में कितनी ऊँची आकांक्षाएँ रही होंगी। जिनके कारण उसने अपना सम्पूर्ण जीवन मनुष्य को दुःख-दर्द से छुड़ाने में लगा दिया। याद रखना चाहिए कि युद्धस्थल में जीवन की ममता भूलकर, दहाड़ती तोपों के सामने, शत्रु की टोली में घुस जाना उतना कठिन नहीं; यह क्षणिक आवेश में भी सम्भव हो सकता है पर प्रत्येक क्षण किसी कार्य में केन्द्रित रह कर जीवन-व्यापी साधना करते रहना बहुत कठिन है। ब्रह्ममुहूर्त्त से लेकर रात-रात तक

बराबर काम करता था; दिन पर दिन, सप्ताह पर सप्ताह, मास पर मास बीतते गये पर उसकी लगन वही रही। यहाँ तक कि उसे पक्षाघात हो गया। पर ज्योंही वह उसके चंगुल से छूटा और चलने-फिरने योग्य हुआ कि फिर अपने काम में लग गया।

अल्ट्रावायलेट और अल्ट्रा शार्ट वेव नामक विद्युत्-तरंगों से आज संसार के अनेक विषम रोग अच्छे किये जा रहे हैं। अल्ट्रा शार्ट वेव के आविष्कारक जर्मनी के एक डाक्टर एर्विन श्लीफेक थे। वर्षों के प्रयोग के बाद वह इस निश्चय पर पहुँचे कि १० मीटर से भी कम लम्बाई की रेडियो-रश्मियाँ (अल्ट्रा शार्ट वेव) विषम रोगों के इलाज में जादू का काम कर सकती हैं। उन्होंने पहले उसे फोड़े-फुंसियों पर आजमाया। उसके बाद अन्य अनेक व्याधियों पर। उन्होंने एक ऐसी लड़की को चंगा कर दिया जो मृत्युशय्या पर अपनी अन्तिम घड़ियाँ गिन रही थी और उसके फेफड़े बेकार हो चुके थे। डाक्टरों और विशेषज्ञों ने उसे जवाब दे दिया था। बाद में उन्होंने नासूर और फेफड़े के फोड़ों के अनेक रोगियों पर इन रश्मियों का प्रयोग किया और अधिकांश को बिल्कुल अच्छा कर दिया। एक अँग्रेज के सिर में ट्यूमर—भीषण व्रण—हो गया था। बोलना—चालना तो दूर वह किसी की बात न समझ सकता था। इसी रेडियो-रश्मि की चिकित्सा से वह भी अच्छा हुआ। संक्रामक रोगों के उपचार में इन किरणों ने बड़ी सफलता प्राप्त की थी। डा० श्लीफेक का निष्कर्ष यह था कि प्रत्येक रोग और प्रत्येक कीटाणु के लिए एक विशेष लम्बाई की विद्युत-तरंग घातक होती है और उसमें उस रोग के कीटाणु नष्ट हो जाते हैं। इस पद्धति के आधार पर हजारों रोगी रोगमुक्त किये गये हैं। प्रारम्भ में बड़े-बड़े विशेषज्ञों ने डा० श्लीफेक की हँसी उड़ाई पर आज उनके मुखर उपहास सदैव के लिए मौन हो गये हैं।

एक ओर जहाँ रोगों से युद्ध करके उन पर विजय पाने में कितने ही

उदारचेता वैज्ञानिक लगे हैं तहाँ दूसरे मनुष्य को मृत्यु के जबड़े से मुक्त करने की चेष्टा में हैं। उनका विश्वास है कि जैसे मशीन के पुरजे घिस जाते हैं तो बदल दिये जाते हैं और मशीन पुनः काम करने लगती है वैसे ही शरीरयंत्र के भी पुरजे नये लगाये जा सकते हैं। जीवविज्ञान-विशारद कृत्रिम हृदय बनाने में निरन्तर प्रयत्नशील हैं। ब्रिटेन और अमेरिका के वैज्ञानिकों ने पशु-पक्षियों पर इन सिद्धान्तों के प्रयोग में एक सीमा तक सफलता भी प्राप्त की है। रूसी वैज्ञानिक तो इस कार्य में और भी आगे बढ़ गये हैं और मनुष्य-शरीर पर भी इनका प्रयोग कर रहे हैं। इन वैज्ञानिकों को विश्वास है कि वे अवश्य सफल होंगे और तब अस्पतालों में औषधियों की तरह विभिन्न ग्रन्थियाँ—ग्लैंड्स-भी सुलभ होंगी जिन्हें शरीर की जीर्ण ग्रन्थियों के स्थान पर अपरेशन-द्वारा, लगाया जा सकेगा। ये वैज्ञानिक इस प्रयत्न में भी हैं कि जन्म से ही मनुष्यों को निर्दोष बनाया जा सके। उनका कहना है कि विभिन्न ग्रन्थियों से एक प्रकार का रस निकलकर रुधिर में मिलता रहता है और इसी रस के कारण रुधिर सक्षम रहता है। इसी रस को 'हारमोन्स' के रूप में ग्रन्थियों से अलग करके सुरक्षित रखने की चेष्टाएँ की जा रही हैं। इन हारमोन्स के इंजेक्शन देकर मूर्ख को विद्वान, नाटे को लम्बा, चिड़चिड़े को सौम्य बनाया जा सकेगा। आज बहुत से लोग इन वैज्ञानिकों के प्रयत्नों पर हँसते भी हैं पर वे अद्भुत आत्म-विश्वास से पूर्ण हैं, उनमें उच्चाभिलाषा काम कर रही है: यह अभिलाषा कि मनुष्य दीन, दुर्विदग्ध, दुर्बल, अशक्त, रोगी और हीन जीवन बिताने के लिए नहीं पैदा हुआ है, और उसे हम स्वस्थ, सुखी, शक्तिमान और अपने ऊपर पूर्ण नियंत्रण रखने की शक्ति से युक्त बनाकर छोड़ेंगे। जैसा कि प्रत्येक क्षेत्र में होता है, विज्ञान में भी जहाँ अनेक वैज्ञानिक विज्ञान की ध्वंसात्मक शक्तियों के विकास और उनके प्रयोग से मानवता के सर्वनाश में लगे हुए हैं तहाँ अनेक उसे मृत्यु और दुःख के जबड़े से निकालकर शक्ति, समृद्धि और

आनन्द के स्रोत तक पहुँचाने में प्रयत्न-शील हैं और वही कार्य कर रहे हैं जो किसी समय हमारे ऋषियों ने आध्यात्मिक तल पर किया था।

मानव-ज्ञान की यात्रा में एक-एक इंच भूमि पर आगे बढ़ने के लिए न जाने कितने प्रयत्न, कितने बलिदान किये गये हैं और किये जा रहे हैं। एक-एक ग्रहमण्डल की खोज में लोग वर्षों से लगे हैं; सूर्य-रश्मियों का पृथक्करण और उनकी शक्तियों का अनुसन्धान किया जा रहा है; इतिहास के प्रस्तर-खण्डों में प्राण फूँका जा रहा है। हजारों वर्ष पूर्व पल्लवित सभ्यताओं की खोज की जा रही है। मनोविज्ञान के नूतन प्रयोगों ने शिक्षणकला में क्रान्ति कर दी है। पृथ्वी के दुर्गम स्थल मानवीय साहस के पदाघात से कम्पित और ध्वनित हैं। उत्तर और दक्षिण ध्रुवों की खोज में कितने ही साहसी अन्वेषकों ने असीम कष्ट सहे हैं, कितनों ने प्राणदान किया है पर उसके सम्बन्ध में वे हमारी ज्ञानयात्रा को एक मंजिल आगे पहुँचा गये हैं। हिमालय के दुर्गम शिखरों पर मानव के प्राणों की बाजी लगी हुई है। गौरीशंकर और कंचनजंघा, नन्दादेवी और नंगा पर्वत को विजय करने की आकांक्षा, अगणित बलिदानों के बाद भी, कम नहीं हुई है। मानव का असम साहस प्रकृति के गर्वोन्नत मस्तक को झुकाने में निरन्तर प्रयत्नशील है। यद्यपि अभी तक हिमालय का केवल कामट नामक एक शृंग ही विजित किया जा सका है और गौरीशंकर (एवरेस्ट), नंगा पर्वत इत्यादि के विजयाभियान में बार-बार प्राणों की बलि देनी पड़ी है परन्तु आरोही बिलकुल निराश नहीं हैं, उनके प्रयत्न बराबर जारी हैं। १८९५ से आज तक नंगा पर्वत पर ही आरोहण के अनेक प्रयत्न किये जा चुके हैं। ममेरी नामक साहसी अंग्रेज ने १८९५ में पहली बार एक गोरखे को लेकर नंगा पर्वत पर चढ़ने की चेष्टा की। वह २१००० फुट की ऊँचाई तक पहुँचा और डायमा ग्लेशियर तक गया किन्तु वहाँ से लौट न सका। नंगा पर्वत के विशाल हिमस्तम्भ पर यह मानव का पहिला बलिदान था। सैंतीस वर्ष तक

फिर किसी ने चूँ न की। १६३२ ई० में जर्मन पर्वतारोही हर मरकल के अधिनायकत्व में जर्मन और अमेरिकन युवकों के एक दल ने आरोहण का प्रयत्न किया। महीनों तक बर्फ, तूफ़ान और असीम कठिनाइयों का सामना करने के बाद २३१७०फुट ऊँचाई तक पहुँचने में सफलता प्राप्त हुई। १६३४ में इसी दल के कुछ प्रमुख सदस्यों ने कुछ और आरोहियों के साथ पुनः आरोहण का प्रयत्न किया पर २३००० फुट से ऊपर न जा सके और इस आरोहण में प्रायः सभी प्रमुख आरोही नष्ट हो गये। १६३७ ई० में डा० कार्लवेन की अध्यक्षता में पुनः आरोहण की चेष्टा की गई किन्तु इस बार फिर तुषार-स्तूप के पतन से एक सदस्य को छोड़ कर सब काल-कवलित हुए। अब तक नंगा पर्वत के आरोहण में जितनी प्राणहानि हुई है उतनी किसी और शृंग के आरोहण में नहीं हुई। संसार के सब से उत्तुंग शृंग गौरीशंकर या एवरेस्ट पर सब से पहला अभियान १६२१ में हुआ। इसमें डा० केलस-जैसे कुशल आरोही की मृत्यु हुई पर दल के नेता कैप्टन जी० बी० ब्रूस ने २७३०० फुट की ऊँचाई तक आरोहण करने में सफलता प्राप्त की। दूसरे साल, १६२२ ई० में, एक दल ने फिर प्रयत्न किया पर वह पूर्णतः विफल हुआ और एक विशाल हिमखण्ड के पतन के कारण, दबकर, सात व्यक्तियों को प्राणदान करना पड़ा। १६२४ में ब्रिगेडियर-जेनरल ब्रूस की अध्यक्षता में अत्यन्त कुशल आरोहियों का एक दल आरोहण के लिए रवाना हुआ। इसमें मेलोरी और इर्विन-जैसे कुशल आरोही थे। यह कहा जा सकता है कि यह आरोहण सफल हुआ। ८ जून को मेलोरी और इर्विन गौरीशंकर शृंग के मस्तक पर चढ़ गये। २६८०० फुट पर गड़े तम्बू से लोग दूरबीन के सहारे यह अदभुत दृश्य देख रहे थे। दुर्जय प्रकृति पर आज मानव ने विजय प्राप्त की थी। पर विजयी आरोही-द्वय पुनः लौट न सके। लौटने के पूर्व ही शिखर पर भीषण आँधी आ गई और रात को बहुत देर में शान्त हो पाई।

आँधी चल रही थी और निरन्तर तुषार-पात हो रहा था। इसलिए शीघ्रता से दोनों की प्राण-रक्षा का प्रयत्न न किया जा सका और उन्हें वहीं हिम-समाधि लेनी पड़ी। १९३३ में फिर एक शक्तिशाली दल ने आरोहण का प्रयत्न किया। इस प्रयत्न में ब्रिटेन की राजकीय भौगोलिक परिषद् (रायल ज्योग्राफिकल सोसायटी), यूरोप की आल्पस समिति तथा हिमालय क्लब जैसी संस्थाओं का पूर्ण सहयोग था और प्रख्यात ब्रिटिश आरोही श्री रटलिज इस दल के नायक थे। बड़ी-बड़ी तैयारियाँ की गईं। २७४०० फुट ऊँचाई तक चढ़ने में सफलता हुई पर प्रचंड झंझावात और भयंकर तुषारपात के कारण अन्तिम शृंग पर न पहुँचा जा सका। १९३७ में भी प्रयत्न किया गया। इतने प्रयत्नों के बाद भी पूर्ण सफलता नहीं मिली है। वैसे तो हवाई जहाज इन चोटियों के ऊपर उड़ने में सफल हुए हैं पर मनुष्य के चरण-चिह्न पर्वत के मस्तक पर पहुँच कर पुनः लौट आये हों, ऐसा अभी तक नहीं हो सका है। उत्तुंग पर्वत-शृंगों के अरोहण में मनुष्य के साहस की पूरी परीक्षा हो जाती है। यह कोई सरल कार्य नहीं। अधिक ऊँचाई पर वातावरण का घनत्व कम हो जाता है। हवा में प्राणवायु—आक्सिजन—की कमी हो जाती है। साँस लेने में कठिनाई होती है। फेफड़े खराब हो जाते हैं। भयंकर शीत के कारण रुधिर-वाहिनियाँ फट जाती हैं। चट्टानें खिसकती हैं; भयङ्कर आँधियाँ चलती हैं; तुषारपात होता है। ऐसी भयङ्कर कठिनाइयाँ भी मनुष्य के साहस को भंग नहीं कर पाती हैं। मनुष्य पराजय स्वीकार करने को तैयार नहीं।

क्या इस प्रकार के कार्य, जिनमें मौत के जबड़े में प्रवेश करके, मानव ने जीवन की दीक्षा ली है, सच्ची महत्वाकांक्षा, सच्ची उच्चाभिलाषा के बिना सम्भव हैं? जैसे पंखहीन पक्षी उड़ नहीं सकता उसी प्रकार जिसमें महत्वाकांक्षा वा उच्चाभिलाषा नहीं है वह कभी परिस्थितियों से ऊपर उठने, दुर्जय कठिनाइयों को पराजित करने में सफल नहीं हो सकता। उच्चाभि-

लाषा का तो अर्थ ही है कि हम अपनी वर्तमान अवस्था से ऊपर उठकर रहेंगे, हम अपनी पशुता पर विजय प्राप्त करेंगे; हम अन्धकार और जड़ता के निद्रामय जीवन से निकल कर प्रकाश और चेतना के जीवन में प्रवेश करेंगे। जब उच्च संकल्प के भावावेश से मन का स्पर्श होता है तब उसमें दृढ़ता आती है और निर्मलता एवं पवित्रता का उद्भव होता है। तब अपवित्रता, हीनता की काई अपने आप कटने लगती है। जब मनुष्य को अपनी अन्तःशक्तियों का आभास मिलता है तभी वह अपनी हीन स्थिति से असन्तुष्ट होकर उससे ऊपर उठना चाहता है। अपवित्रता, अशक्ति और हीनावस्था अप्राकृतिक, पाशविक, मालूम पड़ती हैं क्योंकि वह पाशविक ही हैं। इसी ज्ञान से अपवित्रता और हीनावस्था में दुःख का अनुभव होता है; मन व्यथित होता है; ऊपर उठना चाहता है। जैसे शमी में आग छिपी होती है वैसे ही मनुष्य में अनन्त संभावनाएँ और शक्तियाँ छिपी हैं। उच्चाभिलाषा इन प्रच्छन्न मानवीय शक्तियों के द्वार खोल देती है। इसी के पंखों पर मनुष्य आकाश में उड़ता है; समुद्रों की छाती चीर कर पृथ्वी के ओर-छोर को एक कर देता है; पहाड़ों के सिर पर पदाघात करता है। कोई भय, कोई खतरा, कोई कठिनाई, कोई संकट उसका दम नहीं तोड़ सकता। उच्चाभिलाषा मानो मानव की दिव्य—ईश्वरीय—शक्तियों की भौतिक जगत् पर विजय की घोषणा है। इसीलिए इसके बिना कोई भी श्रेष्ठ कार्य सम्भव नहीं। एक-एक देश ने अपनी स्वतन्त्रता के लिए लक्ष-लक्ष प्राणों की आहुति दी है। घर से उपेक्षित, समाज से तिरस्कृत होकर भी हजारों ने सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध, अज्ञान के अन्धकार के विरुद्ध निरन्तर युद्ध किया है, आज भी कर रहे हैं। जहाँ कोई देखने वाला नहीं, सुनने वाला नहीं, उन स्थानों पर भी, यशलिप्सा से दूर रह कर, कर्तव्य की वेदी पर अगणित मानवों ने प्राणोत्सर्ग किये हैं। दीन-दुखियों की सेवा,

दरिद्रों के उपकार, रोगियों की परिचर्या और दलितों के सुख-संवर्द्धन में कितनों ने अपना जीवन लगा दिया है या लगा रहे हैं। क्या ये सब कार्य आत्मा की सच्ची प्रेरणा और सच्ची महत्वाकांक्षा के बिना सम्भव हैं ? संसार में जो प्रकाश, जो उन्नति, जो आनन्द है इसी कारण है। उच्चाभिलाषा विजड़ित, शृंखलाबद्ध आत्मा की मुक्ति की घोषणा है। इसके द्वारा हम जीवन में शक्ति और प्रकाश का आवाहन करते हैं।

संकल्प-बल

संकल्प और विचार, तत्वतः, एक ही हैं। सामान्य अवस्था में विचार अमूर्त होते हैं। संकल्प में विचार को घनत्व प्राप्त होता है। ऐसा भी कह सकते हैं कि दृढ़ या संघटित विचार ही संकल्प है। इसमें विचार के साथ सूक्ष्म भावना का भी मिश्रण होता है। संकल्प विचार की अपेक्षा कम अमूर्त्त हैं। सघनता के कारण कार्य से, जिसे विचार का स्थूलीकरण कह सकते हैं, संकल्प का निकट सम्बन्ध है। जब विचार कार्य की ओर अग्रसर होने लगता है तब संकल्प का रूप प्राप्त करता है।

विचारों की शक्ति प्रबल है। विश्व में शक्ति के जितने भी साधन हैं उनमें विचार की शक्ति सब से अधिक है। चैतन्यग्राही होने के कारण उसकी गति अप्रतिहत है। जो वस्तु जितनी जड़ है उसमें शक्ति का प्रवाह उतना ही कम है। जो वस्तु जितनी ही सूक्ष्म या चेतन है उसका बल भी उतना ही अधिक है। पत्थर में जड़ता का घनत्व मिट्टी से अधिक है; मिट्टी में उसकी अपेक्षा जड़ता कम और चेतना अधिक है इसलिए मिट्टी में पत्थर से शक्ति भी अधिक है। जल मिट्टी से सूक्ष्म है इसलिए उसमें और भी अधिक शक्ति का अधिष्ठान है। इसीलिए वह अधिक उपयोगी और बलवान है। जल से वाष्प, वाष्प से वायु, वायु से आकाश, आकाश से प्रकाश, प्रकाश से विद्युत् में जड़ता कम और चेतना अधिक है। इसीलिए एक की अपेक्षा दूसरा अधिक शक्तिमान है। प्रकाश की गति एक मिनट में लाखों मील की है किन्तु विचार की गति उससे भी अधिक है।

विचार से कम्पन और उससे तरंगें उत्पन्न होती हैं। प्रत्येक विचार एक विशिष्ट प्रकार की लहर उत्पन्न करता है और मनुष्य का मस्तिष्क अपनी सजा-

तीय तरंगों का ग्रहण करता रहता है। जैसे एक आदमी क्रोधावेश में है तो क्रोध की तरंगें उससे टकराती हैं; दूसरा स्नेह और सहानुभूति के विचारों से भर रहा है और यदि उस दिशा में उसके विचार दृढ़ हैं तो वैसी ही विचार-तरंगें उसे स्पर्श करती हैं। कभी दृढ़ विचारों से निर्गत एक तरंग दुर्बल मन वाले व्यक्ति के विजातीय विचार को भी दबा देती है। जैसे एक आदमी में भावनाएँ अच्छी हैं पर विचार बिखरे हुए और शिथिल हैं तो दूसरी बुरे या विरोधी विचारों की तरंगें उसे पराजित कर लेती हैं। इसीलिए हम अपने चारों ओर ऐसे बहुसंख्यक व्यक्तियों का समुदाय पाते हैं जो यों सदाशय हैं पर जीवन में कोई बड़ा कार्य नहीं कर पाते। इसका कारण यह है कि उनका मन दुर्बल है; उनके विचार शिथिल और शक्तिहीन हैं और उनमें विचारों की दृढ़ता नहीं रह गई है।

इस विश्लेषण से एक ही निष्कर्ष निकलता है कि जिसमें सच्ची महत्वाकांक्षा है, जो अपनी प्रच्छन्न शक्तियों का विकास करके अपने लिए और दूसरों के लिए कल्याण-सृष्टि करना चाहता है, जिसे ऊपर उठना है, उसे विचारों की शक्ति और महत्त्व का ज्ञान होना चाहिए। मनुष्य का जो भी कार्य-व्यापार है सब उसके विचार का ही स्थूल रूप है। अध्यात्मविद्या में तो यह भी माना गया है कि समस्त बाह्य जगत् अन्तर्जगत का प्रतिबिम्ब मात्र है। समस्त सृष्टि विचार-शक्ति का परिणाम है। एक-एक कार्य एक-एक वस्तु एक-एक विचार का मूर्तरूप अथवा प्रतीक मात्र है। अनिर्वचनीय अव्यक्त ब्रह्म की शक्ति का स्फुरण भी इच्छा से ही हुआ। उसने विचार किया और एक से अनेक हो गया। वही उत्पादक शक्ति प्रत्येक मनुष्य में है क्योंकि मनुष्य में भी परम-कर्त्ता का चैतन्यांश है। इसी चैतन्यांश की अनुभूति या जागरण मानव का सच्चा उत्थान है।

मानव जो भी, जैसा भी विचार करता है वैसा ही बनता है और वैसा ही

दूसरों को बनाने में सहायता करता है। यदि हम जान लें कि हम चित में उदय होने वाले प्रत्येक विचार से अपने साथ ही संसार को भी अच्छा या बुरा बना रहे हैं तो हम उस उत्तरदायित्व की कुछ कल्पना कर सकेंगे जो मानव होने के नाते हम पर है। हम लोग प्रायः समझते हैं कि जब तक हम कोई बुरा कर्म नहीं करते तब तक मन में यदि कोई दूषित विचार आ ही गया तो कोई विशेष हानि नहीं। यह गलत धारणा है। प्रत्येक विचार, जो मन में उदय होता है, बिजली के समान प्रचंड शक्ति से पूर्ण है। इसलिए मनुष्य यदि कोई भी क्षुद्र विचार मन में आने देता है तो न केवल वह अपने मन को दुर्बल करता और बुरे कार्यों की ओर अपने को प्रवृत्त करने का बीज बोता है बल्कि विश्व के प्रत्येक प्राणी के जीवन को विषाक्त करने का भी अपराध करता है। यह उस वातावरण में अत्यन्त विषैले और घातक कीटाणुओं की परम्परा आरम्भ करने के समान है जिसमें हमें श्वास लेना है। कोई मनुष्य विचारों से एक क्षण रिक्त नहीं रह सकता। वह प्रति दिन अपने मस्तिष्क के चेतना-केन्द्र से अगणित विचार-तरङ्गें बाहर भेजता है और ग्रहण भी करता है। इससे आप उस हानि का कुछ अनुमान कर सकते हैं जो बुरे, हीन, दुर्बल, अस्वस्थ और अकल्याणकर विचार वाला आदमी अपना और समस्त विश्व का करता है। इसी प्रकार उसके विचार अच्छे हुए तो वह अपना तथा दूसरों का कितना कल्याण-साधन कर सकता है, इसका अनुमान करना भी कुछ कठिन नहीं।

मस्तिष्क की शक्ति से ही हम गिरते और उठते हैं; खड़े होते और चलते हैं। विचार की तीव्र शक्ति से ही सब काम होते हैं। जो अपने विचारों के स्रोत को नियंत्रित कर सकता है वह अपने मनोवेग पर भी शासन कर सकता है। ऐसा व्यक्ति अपने संकल्प से वृद्धावस्था को यौवन में बदल दे सकता है, रोगी को नीरोग कर सकता है। मनमें सदा सद्विचारों को स्थान देने से मनुष्य

अपनी विपुल आत्मशक्ति को प्रत्यक्ष कर सकता है। उसमें सोई हुई असीम शक्तियाँ जाग उठती हैं। प्रत्येक उच्च कार्य करने की शक्ति का अनुभव होता है। किसी श्रेष्ठ संकल्प से शरीर के समस्त जीवकोष्ठक (सेल्स) दृढ़ एवं शक्तिमान होते हैं; धारणा शक्ति सजीव होती है। शक्ति का अन्तःस्वरूप चेतन और बाह्य रूप गतिमान है। अर्थात् उसमें चैतन्य और गति दोनों हैं। विचार-शक्ति संसार को चेतना प्रदान करती और चलाती है। विचारों का स्रोत मन है और जिस मन्थनकारी यंत्र की सहायता से विचार मन से निःसृत होते हैं वह मस्तिष्क है। यद्यपि विचार मानव दृष्टि से अदृश्य हैं परन्तु उनकी अद्भुत शक्ति को सब ने स्वीकार किया है। अमेरिका और युरोप के बहुत से डाक्टरों ने संकल्पशक्ति से मानसिक एवं स्नायविक रोगों की चिकित्सा में पर्याप्त सफलता प्राप्त की है। इस प्रकार की साइकोथिरैपी या प्राणचिकित्सा का प्रसार वहाँ दिन दिन अधिक हो रहा है। जीर्ण रोगों में अपनी मनःशक्ति का प्रभाव रोगी के ऊपर डालते हैं और उसके दुर्बल मन को सबल कर रोग से लड़ने की उसकी शक्ति में वृद्धि करते हैं। क्या आपने स्वयं यह दृश्य सैकड़ों बार नहीं देखा है कि एक आनंददायक वा शुभ विचार के मन में आते ही चेहरा गुलाब के फूल की तरह खिल उठता है; और भय के कारण वही चेहरा एकदम पीला—निर्जीव पड़ जाता है। शोक-समाचार सुनने से भूख बन्द हो जाती है; क्रोध एवं चिड़चिड़ेपन से मुँह का स्वाद बिगड़ जाता तथा आँतें निर्बल पड़ जाती हैं। इन बातों से आप शिक्षा ले सकते हैं कि शुभ, उन्नत और कल्याणकारी विचारों से मानव शरीर अधिक सक्षम एवं नीरोग रहता है तथा जीवन-युद्ध में सफलता प्राप्त करने की अधिक आशा की जा सकती है।

आप समझ सकते हैं कि विचारों के रूप में कैसी सूक्ष्म शक्तियाँ मनुष्य में भरी पड़ी हैं। इन विचारों को दृढ़ करके, संघटित करके मनुष्य संकल्पबल से अपनी काया पलट सकता है और विश्व को बदल सकता है। इससे आप यह

भी समझ सकते हैं कि क्यों निराशा पाप है, और क्यों आशा और विश्वास संजीवन रस का काम करते हैं। जो सोचता है कि मैं अभागा हूँ; मुझे प्रभु ने भाग्यहीन बनाया है; मेरे भाग्य में दुःख ही लिखा है वह धन और सुविधाएँ पाकर भी दुखी ही रहेगा। जो अपने को असमर्थ और अभागा मानता है, समझता है उसे सौभाग्यशाली बनाने में कोई समर्थ न होगा। स्वयं मनुष्य के सिवा किसी में यह शक्ति नहीं है कि उसे शान्ति और सुख दे सके। हम जो अन्दर से हैं, उसी के अनुरूप बाहर भी बनेंगे। यदि हमारा मानस दरिद्र है तो चाहे हमारे चतुर्दिक ऐश्वर्य का सागर लहराता हो, दरिद्र ही रहेंगे। हम में से प्रत्येक ने इस बात का अनुभव किया होगा कि बहुत से व्यक्ति धन-सम्पन्न होकर भी मानसिक दृष्टि से अत्यन्त विपन्न हैं। जैसे गधे पर अशर्फियाँ लदी हों तो उसे क्या, वैसे ही जब मन गरीब है तो धन होने से क्या? इसके विरुद्ध बहुतेरे व्यक्ति गरीब होकर भी हृदय के धनी होते हैं। वे ही सच्चे धनी हैं क्योंकि कोई ऐसी आपदा, कोई ऐसा संकट नहीं है जो उनकी मनःशक्ति को; उनके मानसिक सन्तुलन और शान्ति को नष्ट कर सके। उस मनुष्य के लिए कोई उपाय नहीं है जो माने बैठा है कि मैं अभागा ही जन्मा हूँ और अभागा ही मरूँगा। संकल्प बल से पूर्ण मनुष्य कहेगा कि जन्म लेना मेरे वश में न था पर मरना मेरे वश में है। चाहे मैं अभागा जन्मा होऊँ पर भाग्यवान और ऐश्वर्ययुक्त होकर मरना सर्वथा मेरी शक्ति में है।

ऐसा व्यक्ति जो बनना चाहता है वैसे ही विचारों से अपने अन्तर को भरता है। वह वही सोचता है, वही पढ़ता है, वैसी ही बातें करता है। इससे संकल्पबल बढ़ता जाता है; उसके निजी विचार पुष्ट और शक्तिमान होते जाते हैं और वे अन्य पुरुषों के संकल्पबल से उत्पन्न स्वजातीय तरंगों को ग्रहण करके अपनी शक्ति प्रतिदिन बढ़ाते हैं। कुछ दिनों में उनमें इतना आत्मबल उत्पन्न हो जाता है कि सैकड़ों व्यक्तियों के अनुचित विचारों अथवा

कार्यों के विरुद्ध अकेले भी खड़े हो सकते हैं।

संकल्प से आत्मप्रेरणा का घनिष्ठ सम्बन्ध है। आत्मप्रेरणा में बिजली से भी अधिक शक्ति है। यदि आप प्रति दिन विश्वासपूर्वक भावना करते रहें कि मैं नीरोग हूँ, रोगों के कीटाणु मेरे शरीर से नष्ट हो रहे हैं, शक्ति मुझ में भर रही है, शुद्ध रक्त तेजी से हमारे शरीर में दौड़ रहा है और मैं प्रति क्षण बलवान हो रहा हूँ तो इसे निश्चित समझ लें कि आप कभी बीमार न पड़ेंगे और स्वस्थ रहेंगे। यदि आप विद्यार्थी हैं और कोई विषय आपको कठिन जान पड़ता है, आप उसमें कमजोर हैं तो आज ही संकल्प कीजिए कि मैं इस दुर्बलता को पराजित करके रहूँगा। उसके हाथों हार स्वीकार करने से इन्कार कर दीजिए। भावना कीजिए कि आप के अन्दर आवश्यक क्षमता का उदय हो रहा है। आपकी दुर्बलता दूर हो रही है। आप अवश्य उस विषय पर अधिकार कर लेंगे। जिस विषय में आप कमजोर हों उसी में लड़ाई ठानना सच्चा पौरुष है। उससे भागिए नहीं ; पीठ न दिखाइए ; उसका सामना करने और उस पर विजय पाने का निश्चय कीजिए। सफलता आपकी है। कोई विषय कितना ही कठिन प्रतीत होता हो, दृढ़ निश्चय और संकल्प में वह शक्ति है जो उसे पानी कर दे सकती है। आचार्य विनोबा ने एकाएक अरबी जैसी कठिन भाषा सीखने का निश्चय किया और बहुत थोड़े समय में उस पर अधिकार कर लिया। मनुष्य की वास्तविक दुर्बलता यह है कि वह इच्छा तो करता है पर पर्याप्त इच्छा नहीं करता—इच्छा को प्रबल नहीं बनाता। 'हो जाय तो ठीक नहीं तो नहीं सही' वाली उदासीन मनोवृत्ति से कभी जीवन में सफलता नहीं मिल सकती। दुर्बलताओं के प्रति आक्रामक बने बिना, उनके समूल विनाश के निश्चय के बिना, संकल्प को संघटित किये बिना जीवन-युद्ध असफल इच्छाओं और प्रयत्नों की कहानी मात्र रह जायगा।

लिली एलेन ने लिखा है कि एक बार किसी पहाड़ी के पादतल में एक

छोटी नदी बहती थी। किसी समय वह नदी भरी-पूरी रहा करती थी। एक ऊँची पहाड़ी से निकल कर समुद्र में जा मिली थी। किन्तु इस समय सूखकर क्षीण हो गई थी; उसकी पुरानी शक्ति का लोप हो गया था। उसके अस्तित्व की ओर कोई ध्यान भी न देता था। एक दिन कोई विचारवान मनुष्य उधर से गुजरा, उसने इस नदी पर ध्यान दिया और सोचा कि यदि इसके जल का नियंत्रण उचित ढंग से किया जाय तो इसमें फिर से वेग और शक्ति उत्पन्न की जा सकती है और इसे उपयोगी बनाया जा सकता है। उसने इस काम को अपने हाथ में लिया। बाँध बँधवाये; बड़े-बड़े हौज बनवाये। उसने इंजिनघर और पनचक्कियों का प्रबन्ध किया। थोड़े ही समय में वह छोटी नदी, जो बहुत समय तक मुर्दा पड़ी हुई थी, बड़े वेग से बहने लगी। फल-स्वरूप उससे सैकड़ों चक्कियाँ चलने लगीं जिनसे आटा पिसकर लोगों को मिलने लगा, बड़े-बड़े कुण्ड पानी से भरे जाने लगे, जिससे जन समूह को पर्याप्त जल मिलने की सुविधा हो गई और कई बिजलीघर चलने लगे; अनेक कस्बे प्रकाश से जगमगाने लगे। यह चमत्कार कैसे संभव हुआ? इसीलिए कि एक मनुष्य ने अपनी विचार-शक्ति का उपयोग किया। सैकड़ों और आदमियों ने उस नदी को देखा था किन्तु कुछ न कर सके थे। उनमें न कल्पना थी, न बुद्धि। इसके विपरीत एक व्यक्ति ने उसकी भीतरी शक्ति का अनुभव किया और जैसा चित्र मन में बनाया उसे कर दिखाया। मन भी इस छोटी नदी के समान इधर-उधर निरर्थक बहता रहता है और साधारणतः मनुष्य को उसकी शक्ति का पता भी नहीं चलता। जो उसकी शक्ति को जानते हैं वे उसका श्रेष्ठ उपयोग कर लेते हैं।

बाइबिल में कहा गया है—"यदि वास्तव में, सचाई के साथ तुम मेरी खोज करोगे तो मैं निस्सन्देह तुमको मिलूँगा। यदि सचाई के साथ तुम मुझसे कोई वस्तु माँगोगे तो वह तुम्हें अवश्य दी जायगी। ढूँढो, मैं तुम्हें

अवश्य मिलूँगा। दरवाज़ा खटखटाओ वह तुम्हारे लिए अवश्य खोला जायगा। जो माँगता है वह पाता है।" प्रसिद्ध विचारक एडवर्ड कारपेंटर लिखता है—"मन को शान्त रखो। इस बात का अनुभव करो कि संसार बड़ा सुन्दर है और उसमें बड़े-बड़े अमूल्य रत्न भरे हैं। जो तुम्हारे हृदय में है, जो तुम चाहते हो, जो तुम्हारी प्रकृति के अनुकूल है वह सब इस संसार में भरा हुआ है। तुम्हें अवश्य मिलेगा।" इन सब में भी दृढ संकल्प की ही महिमा बताई गई है। जो कुछ तुम सचाई से माँगोगे, अवश्य मिलेगा। यह ईश्वरीय आश्वासन है। जो कुछ हमारी आत्मा की प्रेरणा है, जो कुछ हमारा हृदय चाहता है, वह सब हमें मिल सकता है, प्रत्येक व्यक्ति को वह मिल सकता है। शर्त्त इतनी सी है कि हम उसके लिए सच्ची इच्छा करें, दृढ़ संकल्प करें, उसमें अपने मन को पूर्णतः नियोजित कर दें।

सैकड़ों वर्ष पूर्व एक महात्मा ने कहा था—'मनुष्य जैसा है, अपने विचारों से बना है।' उपनिषद् का वचन है—'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः' (मै० उ० ६।३४)। मनुष्यों के बन्धन (पराधीनता) और मोक्ष (स्वतंत्रता) का कारण मन ही है। अपने विचारों को दृढ़ करके व्यक्ति बन्धनों से मुक्त हो सकता है, स्वतंत्रता प्राप्त कर सकता है; और अपने विचारों से ही वह अपने को बन्धन में बाँधता है। स्वतंत्रता और सुख प्राप्त करना मनुष्य की अपनी इच्छा, अपने संकल्प बल पर है। यदि हमारी आत्म-प्रेरणाएँ हीन और अशुद्ध होंगी तो हम भी हीन बन जायंगे; यदि हमारी प्रेरणाएँ उच्च और दिव्य होंगी तो हम सफल और सुखी होंगे। एक सन्त पुरुष का वचन है कि "जो कुछ सत्य है, जो कुछ प्रामाणिक है, जो कुछ न्यायपूर्ण है, जो कुछ प्रेममय है अर्थात् जिसमें श्रेष्ठता और उच्चता विद्यमान है, उसी का विचार करो।" कभी किसी अवाञ्छनीय विचार को अपने पास न फटकने दीजिए। उदासी और हीनता, रोग और दुःख के विचार मन में न आने दीजिए। विश्वास रखिए, आप में पूरी योग्यता

है। आप अपने कार्य को अच्छे से अच्छे ढंग पर सम्पादन कर सकते हैं। आपका जीवन विजय के लिए है। आप अपनी महत्त्वाकांक्षाओं को मुरझाने न दीजिए। विचारों को स्वच्छ और स्पष्ट कीजिए; संकल्प बल को जाग्रत कीजिए; हृदय को आशा और आनन्द के राज्य में प्रवेश करने दीजिए।

अध्यवसाय

किसी कार्य के सिद्ध होने तक, निरन्तर प्रयत्न करने को अध्यवसाय कहते हैं। अध्यवसाय में उद्देश्यसिद्धि के लिए परिश्रम और निरन्तरता दोनों तत्व सम्मिलित हैं। इसका प्रेरक गुण उत्साह है। बहुत से व्यक्ति किसी कार्य को प्रारम्भ करते हैं, आरंभ में उसके लिए खूब उत्साह भी रहता है; श्रम भी करते हैं परन्तु शीघ्र फल-सिद्धि न होने, बाह्य उत्तेजन न मिलने अथवा कठिनाई आ जाने के कारण उसे छोड़ देते हैं। फिर दूसरा कार्य आरंभ करते हैं, और उसका अन्त भी इसी प्रकार होता है। धीरे-धीरे उनका स्वभाव ही पड़ जाता है कि कार्यारंभ में उत्साह, मध्य में शिथिलता और अंत में उदासीनता उनके पल्ले पड़ती है। इस प्रकार के आदमी जीवन में कभी सफलता नहीं प्राप्त कर सकते। उनका आरंभ सदैव दर्शनीय होता है किन्तु अन्त निराशा में होता है। ऐसे आदमी प्रत्येक समाज में हर जगह मिलते हैं। वे अपने जीवन के अनुभव सबको, विशेषतः युवकों को, सुनाने को तैयार रहते हैं और उनके उत्साह पर 'ब्रेक' का काम करते रहते हैं। जीवन में रोना ही इनका हिस्सा है। जब किसी समाज, जाति या देश में ऐसे मनुष्यों की संख्या बहुत बढ़ जाती है तो उसका सामूहिक चरित्र निर्बल हो जाता है। आज हमारे देश की ऐसी ही स्थिति है। इसीलिए उच्च दर्शन, उच्च सांस्कृतिक आधार, उच्च और जगत् की अत्यन्त प्राचीन सभ्यता की विरासत हमारे पास होते हुए भी हमारा जातीय जीवन और जातीय चरित्र शिथिल और शक्तिहीन पड़ गया है। सार्वजनिक जीवन में हमारे कार्यारंभ के उत्साह के लिए एक शब्द आजकल बहुत प्रचलित है—'सोडावाटरी जोश।' शब्द बहुत सुसंस्कृत या साहित्यिक नहीं है परसका उव्यंगार्थ

ध्यान देने योग्य है। सोडावाटर की बोतल जब खोली जाती है तो ज़ोर से उफनती है पर दो मिनट में सब शान्त हो जाता है। हमारे कार्य कुछ इसी प्रकार के होते हैं।

जहां अध्यवसाय नहीं है तहां लक्ष्य की श्रेष्ठता भी प्रायः निरर्थक है। जिस कार्य के पीछे महत्वाकांक्षा और संकल्प के साथ अध्यवसाय नहीं है उसके पूर्ण होने की आशा नहीं की जा सकती। वस्तुतः अध्यवसाय संकल्प की संतति है। संकल्प-बल का अनुमान भी अध्यवसाय से ही लगाया जा सकता है। यह भी कह सकते हैं कि संकल्पबल का स्थूल या कार्यमय शरीर अध्यवसाय है। वह संकल्प का कार्यानुवाद है।

प्रसिद्ध अँग्रेज लेखक जान्सन ने कहीं कहा है कि 'सफलता के लिए दस सैकड़ा आत्मप्रेरणा या आत्मस्फूर्ति और नब्बे सैकड़ा परिश्रम ('टेन परसेंट इंसपिरेशन ऐंड नाइंटी परसेंट पर्सपिरेशन') की आवश्यकता होती है, संसार में सब में असाधारण प्रतिभा नहीं हुआ करती; इसलिए उसके उपयोग की आशा सब से नहीं की जा सकती; पर परिश्रम, अध्यवसाय, प्रत्येक स्वस्थ व्यक्ति सहज ही कर सकता है यदि वह मन पर अंकुश रखे, अपनी मानसिक शक्ति को शिथिल न होने दे और शरीर को श्रम का अभ्यस्त बनावे।

निरन्तर श्रम या अध्यवसाय का प्रेरकगुण उत्साह है। उत्साह कार्य का प्राण है। यदि किसी कार्य में निरन्तर उत्साह न हो तो अध्यवसाय वा निरन्तर श्रम संभव नहीं है। उत्साह के कारण ही मन और कार्य का योग होता है। यह मन और कार्य (जिसे विचार या संकल्प का शरीर कहना चाहिए) के बीच की कड़ी है। ऐसे उत्साहयुक्त श्रम का आनन्द अद्भुत् है। जान्सन ने श्रम के स्थान पर 'पर्सपिरेशन' अथवा पसीना या श्रम-बिन्दु शब्द का प्रयोग किया है। जिस श्रम में शरीर का और मन का पूर्ण

योग होता है वही वास्तविक श्रम है। पसीने की कमाई या पसीने की मेहनत के पीछे जो गहरी आत्मतुष्टि होती है वह अनुभव का विषय है। शेक्सपियर कहता है—'जिस परिश्रम से हमें आनन्द प्राप्त होता है, वह हमारी व्याधियों के लिए अमृत तुल्य है, हमारी वेदना की निवृत्ति है।' परिश्रम और अध्यवसाय से वह मनुष्य भी उद्देश्य-सिद्धि कर सकता है जिसमें उस कार्य के लिए जन्मजात प्रतिभा नहीं है। अध्यवसाय से उसके अनुभव की पूँजी बढ़ती जाती है; उसका आत्म-विश्वास बढ़ता जाता है और कार्य-कुशलता में बराबर वृद्धि होती जाती है। नीति का वचन है :—

गच्छन् पिपीलिका याति योजनानाम् शतान्यपि ,
अगच्छन् वैनतेयोपि पदमेकं न गच्छति।

चींटी निरन्तर चलते-चलते सैकड़ों मील चली जाती है परन्तु (तेज उड़ने वाला पक्षियों का राजा) गरुड़ सोचता बैठा रह जाय कि हम तो क्षण भर में पहुँच जायँगे, जल्दी क्या है, तो बैठा रहने से वह एक पग भी नहीं चल सकता। शक्ति पास रहने से ही कुछ नहीं होता, जब तक हम उस शक्ति का निरन्तर उपयोग करने में असमर्थ हैं तब तक वह शक्ति हमारे पास रह कर भी न रहने के समान है।

किसी कठिन से कठिन कार्य के पीछे पड़ जाने से वह सरल हो जाता है। 'कार्यं वा साधयामि शरीरं वा पातयामि', 'करेंगे या मरेंगे' इस प्रकार का निश्चय करके काम में लगने वाला पहाड़ को भी अपने चरणों में झुका देता है। निरन्तर अध्यवसाय से साधारण आदमियों ने भी अपने क्षेत्र में अद्भुत सफलता पाई है। महात्मा गांधी का नाम न केवल इस देश में वरं संसार के अन्य भागों में भी अत्यन्त श्रद्धा और सम्मान के साथ लिया जाता है। इनका प्रारम्भिक जीवन बहुत ही मामूली था। पर निरन्तर प्रयत्न से, तीव्र अध्यवसाय से वे इतना ऊँचा उठ गये। उनका जीवन इस बात का प्रमाण

है कि साधारण आदमी भी अध्यवसाय एवं दृढ़ संकल्प-बल से असाधारण ऊँचाई तक उठ सकते हैं। संसार के प्रतिभावान मनीषियों की भाँति उनकी महत्ता जन्मजात नहीं है। उनका जीवन निरन्तर, अविच्छिन्न प्रयत्नों से गढ़ा गया जीवन है। एक समय था कि बैरिस्टरी पास करने के बाद भी वे अदालत में खड़े होकर अपनी बात ठीक ठीक नहीं कह सकते थे। आज बड़े से बड़े अधिकारी के सामने स्पष्टतापूर्वक अपनी बात कहने में कोई उनकी समता नहीं कर सकता। एक समय वे दुर्बल, विषयों के दास थे, आज उनका चरित्र महान् जन-समूहों को लिए आदर्श बन गया है। मालवीय जी प्रारम्भ में बहुत झेंपू स्वभाव के थे। अच्छी तरह बोल न सकते थे। बन्द कमरे में बोलने का अभ्यास किया करते थे पर निरन्तर प्रयत्न से देश के सर्वोत्तम वक्ताओं में से एक हो गये। शेरिडन का नाम आपने सुना होगा। पार्लमेंट में उसके प्रारंभिक भाषण को सुनकर एक संवाददाता ने व्यंग करते हुए उससे कहा—"क्षमा कीजिए पर मुझे यह कहते दुःख होता है कि यह कार्य आपकी शक्ति के बाहर है।" शेरिडन ने निश्चल होकर उसकी बात सुनी। क्षण भर सोचा और फिर सिर ऊँचा करके उत्तर दिया—"महाशय, यह काम बिल्कुल मेरी क्षमता के भीतर है और इसकी सत्यता का प्रमाण शीघ्र आपको मिल जायगा।" तब से वह अपने विषय के अध्ययन और विचारों की अभिव्यक्ति के कार्य में बराबर लगा रहा और अन्त में इतना अच्छा वक्ता हो गया कि जब पार्लमेंट में भारत के अंग्रेज गवर्नर जेनरल वारेन हेस्टिंग्ज़ के विरुद्ध मुकदमा शुरू हुआ तो हेस्टिंग्ज़ के विरुद्ध किये गये उसके भाषणों को सुनकर प्रसिद्ध वक्ता फाक्स ने कहा था कि ऐसा भाषण पार्लमेंट की सामान्य सभा में आज तक कभी नहीं हुआ। उसके और बर्क के भाषण, इस सम्बन्ध में, ऐतिहासिक हो गये हैं।

प्रत्येक क्षेत्र में आपको ऐसे दृष्टान्त बहुत अधिक संख्या में मिलेंगे जिनमें

अध्यवसाय मात्र से मनुष्यों ने अपने कार्य में सफलता प्राप्त की है। आज के अनेक बड़े-बड़े उद्योगपतियों में से कितनों ने गरीबी में अपने कार्य का आरंभ किया था पर आज लक्ष्मी उनके पाँव धोती है। ताता, बिड़ला, रामदुलाल इत्यादि के घराने किसी समय बहुत सामान्य अवस्था में थे पर निरन्तर उद्योग, अध्यवसाय से आज उनके हाथ में धन के प्रचुर साधन आ गये हैं। जेम्स हिल ने एक कुली के रूप में जीवन का आरंभ किया था पर निरन्तर परिश्रम से संसार के प्रधान धनपतियों में हो गया। उसने लिखा है—"परिश्रम, घोर श्रम, अध्यवसाय! इसी में आनन्द है और यही जीवन की सफलता की कुंजी है।" वह २०-२० घंटे तन्मय होकर वर्षों काम करता रहा और सफलता प्राप्त की।

प्रत्येक महान् कार्य के पीछे वर्षों के निरन्तर श्रम का इतिहास छिपा होता है। प्रत्येक व्यक्ति ताजमहल को देखकर प्रसन्न और चकित होता है पर उसके पीछे कितनों का कितना श्रम छिपा है इस पर कम लोग विचार करते हैं। मार्डेन ने ठीक लिखा है कि सतत परिश्रम के द्वारा ही मिश्र के मैदान में पिरामिड तैयार किये गये; सतत परिश्रम के द्वारा ही यरुशलम के विशाल और भव्य मन्दिर बने; सतत परिश्रम से ही चीन-साम्राज्य की सीमा का रक्षण करनेवाली लम्बी दीवार खड़ी की गई; बादलों से ढके आल्पस पर्वत पर अभियान संभव हुए, विशाल और तूफानी अटलांटिक महासागर का मार्ग खुला, जंगल और पहाड़ों को काटकर नई दुनिया में, नगर, राज्य और राष्ट्रों का निर्माण हुआ। अजन्ता और एलिफैंटा की गुफाओं तथा साँची के स्तूपों की अमर कलाकृतियों के पीछे कितना अध्यवसाय छिपा है? दुर्गम पर्वतों और जंगलों में बने हुए मन्दिर तथा मठ, जहाँ आज वैज्ञानिक सुविधाओं के युग में भी जाते हुए यात्री का साहस काँपता है, निरन्तर अध्यवसाय की कहानी सुनाते हैं।

रामदुलाल एक सामान्य बङ्गाली के घर पैदा हुए थे। छुटपन ही में रामदुलाल के माता-पिता मर गये। दादा थोड़ा-बहुत जो कमाते उसी के सहारे किसी तरह गुज़र होता था। बेचारे की शिक्षा का भी कोई ठीक प्रबन्ध न हो सका। गरीबी के कारण शिक्षा का कोई साधन ही न था। लिखने को कागज़ नहीं, स्याही नहीं, क़लम नहीं। बालक रामदुलाल केले के पत्तों पर अक्षर बनाना सीखते रहे। जैसे-तैसे बँगला में नाँव-गाँव लिखना सीखा। जीवन कठिनाइयों और कष्टों से पूर्ण था। कभी-कभी भिक्षा के अन्न से पेट भरना पड़ता था। धीरे-धीरे वह एक व्यापारी के यहाँ पाँच रुपये मासिक पर नौकर हुए। इस व्यापारी का व्यापारिक सम्बन्ध दमदम और बैरकपुर की फौजी छावनियों के अँग्रेज़ों के साथ था। रोज रुपये उगाहने के लिए वे पैदल नौ-दस कोस जाते। चाहे बैशाख की धूप हो, सावन की झड़ी हो या माघ का कड़कड़ाता जाड़ा हो, इस काम से उन्होंने कभी जी न चुराया। उन दिनों रुपये वसूल कर अकेले कलकत्ता तक आने में जान का खतरा भी रहता था; कई बार रात हो जाती तो वह वृक्ष के नीचे गरीब यात्री के वेश में पड़ रहते। उनके कार्य से प्रसन्न होकर मालिक ने दस रुपये मासिक पर उन्हें नावों का कारिन्दा नियत किया। उस कार्य में भी दोबार वह डूबते-डूबते बचे पर निष्ठापूर्वक कार्य में लगे रहे। वह न केवल कार्य करते थे बल्कि उस व्यवसाय की बारीकियों का अध्ययन भी कर रहे थे। किसी कालेज या यूनिवर्सिटी के छात्र न होकर भी कर्मक्षेत्र के कठोर शिक्षागार में वह शिक्षा प्राप्त कर रहे थे। जब वह स्टीमर पर बिल वसूल करने के काम पर नियत थे तब स्टीमर की बहुत सी बातों का ज्ञान उन्हें हो गया था। जहाज़ों के द्वारा कैसे माल भेजा जाता है; कैसे जहाज में कैसा माल होता है आदि बातें वे जान गये थे। इसी ज्ञान के कारण पानी में डूबे-हुए जहाज की कीमत की अच्छी जानकारी उन्हें हो गई थी। जिस ज़माने की बात हम कह

रहे हैं तब गंगा में डूबे हुए जहाज नीलाम हुआ करते थे। एक बार उनके मालिक मदनमोहन ने १४००) देकर उन्हें किसी डूबे हुए जहाज को नीलाम में खरीदने के लिए भेजा। पर रामदुलाल नियत समय के बाद वहाँ पहुँचे—नीलाम की बोली समाप्त हो चुकी थी। जहाज की कीमत का अन्दाज उन्हें पहले से था। नीलाम में वह बहुत कम में छूटा था। मन में जहाज की क़ीमत का अन्दाज़ लगाकर ज्यादा अर्थात् १४००) देकर उन्होंने जहाज को खरीद लिया। रामदुलाल के ले चुकने के थोड़ी देर बाद एक अंग्रेज व्यापारी वहाँ आया और उसे खरीदने का आग्रह किया। अन्त में रामदुलाल ने उसे एक लाख रुपये में बेच दिया। इतनी बातें हो गईं पर रामदुलाल के मालिक मदन-मोहन को इसका कुछ भी हाल नहीं मालूम हुआ। रामदुलाल चाहते तो मालिक का १४००) वापिस करके कह देते, मैं देर से पहुँचा, सौदा नहीं हुआ अथवा ५०००) में बिक्री की बात बता कर पचानवे हजार रख लेते। पर जहां लक्ष्य में तन्मयता और अध्यवसाय होता है तहाँ कर्तव्यनिष्ठा और ईमानदारी का भाव भी उत्पन्न हो जाता है। रामदुलाल ने एक लाख की रक़म ले जाकर मालिक के सामने रखी। वे आश्चर्यचकित हुए। जब सब बातें मालूम हुईं तो वे रामदुलाल के ज्ञान, कर्तव्यनिष्ठा और ईमानदारी से बड़े प्रभावित हुए। उन्होंने सब का सब रुपया रामदुलाल को दे दिया। रामदुलाल ने इससे अपना व्यापार फैलाया। निरन्तर परिश्रम से एक दिन वह आया कि बङ्गाल भर में उनका व्यापार फैल गया; हर घाट और हर बन्दर पर उनके माल के जहाज़ लदने लगे। और वही दर दर के भिखारी रामदुलाल बाद में अरबों के स्वामी हुए।

इसी प्रकार जमशेद जी भी किशोरावस्था में ही मातृपितृहीन हो गये थे। विवाह पहले ही हो चुका था। निकट का दूसरा आत्मीय न होने के कारण श्वसुर के ही आश्रय में पले। श्वसुर की हालत भी कुछ अच्छी न थी इस-

लिए जमशेद जी की शिक्षा बहुत साधारण रही। वे गुजराती लिख-पढ़ सकते थे और थोड़ी-थोड़ी अंग्रेजी समझते थे। हाँ, कार-बार की जानकारी प्राप्त कर ली थी। १७६६ में, जब वह सोलह साल के थे, एक पारसी व्यापारी के यहाँ नौकर हुए और उसके साथ चीन गये। अपने वेतन में से थोड़ा-थोड़ा बचाकर उन्होंने १२०) जमा किये थे। उनकी प्रबल इच्छा व्यापार का अध्ययन करके व्यापार के क्षेत्र में प्रवेश करने की थी। चीन में उन्होंने बाजार का खूब अध्ययन किया और अपने मालिक के काम को परिश्रम तथा ईमानदारी से करते रहे। बम्बई लौटने पर पारसी व्यापारी ने जमशेद जी के चरित्र, व्यापारिक ज्ञान तथा योग्यता की बड़ी प्रशंसा की। जमशेद जी ने चीन में जो व्यापारिक अनुभव प्राप्त किया था उसके प्रकाश में स्वयं व्यापार-क्षेत्र में अवतीर्ण होने को उत्सुक थे। इसके लिए ऋण लेने का उद्योग कर रहे थे पर वैदेशिक व्यापार थोड़े रुपयों से नहीं हो सकता; और उन्हें किस जमानत पर कोई रुपये देता पर उनकी लगन और ईमानदारी के कारण उन्हें ३५०००) मिल गये। उन्होंने पाँच बार चीन की यात्रा की। चौथी बार जब वह चीन से वापिस आ रहे थे तो अंग्रेजों और फ्रांसीसियों में लड़ाई छिड़ गई। कोलम्बो (लंका) के पास पहुँचने पर फ्रांसीसियों ने उनके जहाज पर हमला किया। जमशेद जी तथा अन्य यात्रियों ने फ्रेंच सेनापति से उन्हें किनारे पर उतार देने की प्रार्थना की पर उसने न माना। कैद करके फ्रांसीसी उन्हें उत्तमाशा अन्तरीप तक ले गये। रास्ते में हर तरह की तकलीफ बर्दाश्त करनी पड़ी। वहाँ पहुँचने पर भी उन्हें कष्ट दिया गया। दिन-रात में थोड़े से चावल और सिर्फ एक बिस्कुट खाने को मिलता था। सब माल ज़ब्त हो गया। किसी तरह छूट कर सिर्फ शरीर पर पहने हुए वस्त्रों के साथ कलकत्ता लौटे। इन कष्टों से वे निराश न हुए। पुनः माल भरकर जहाज़ के साथ चीन गये। वहाँ से लौट कर १८०७ में स्थायी रूप से बम्बई में कार-बार

आरंभ किया और थोड़े ही समय में अद्‌भुत् सफलता प्राप्त की। उन्होंने करोड़ों कमाये। पर कभी अपनी गरीबी के दिन न भूले। उनकी उदारता से बम्बई में कितनी ही धर्मार्थ संस्थाएँ आज भी चल रही हैं और जब वे नहीं हैं तब भी उनका कार्य मानो शत-शत युवकों के अध्यवसाय में जीवित है।

प्रसिद्ध इतिहासकार गिबन ने 'रोम साम्राज्य का पतन' ग्रन्थ लिखने में बीस वर्ष व्यय किये। वेबस्टर ने अंग्रेजी कोष २६ वर्षों में तैयार किया। श्री बसु ने विश्वकोश की रचना और प्रकाशन में सारा जीवन लगा दिया; स्टिफिंसेन ने रेलगाड़ी के सुधार में १५ वर्ष लगाये; वाट ने बीस वर्षों में भाप के इंजिन का अध्ययन पूरा किया। आप दूर क्यों जाते हैं। हमारे ही देश में इसके शतशः उदाहरण आपको मिल सकते हैं। महाभारत-जैसा महाग्रन्थ लिखने में कितने दिन लगे होंगे। इसी संस्कृत महाभारत के अंग्रेजी अनुवाद और प्रकाशन में श्री प्रतापचंद्र पाल और श्री किशोरीमोहन गांगुली ने सारा जीवन लगा दिया। इसे १०० भागों में छापने की योजना बनाई गई थी। ६४ भाग छप चुके थे कि पाल की मृत्यु हो गई। मृत्यु के पूर्व उन्होंने अपनी पत्नी से कहा—'महाभारत को पूरा करने का प्रबन्ध करना। मेरे श्राद्ध में पैसा न लगाना; उसी को पुस्तक की छपाई में खर्च करना और जितनी सादगी से रह सको, रहना जिससे महाभारत के कार्य के लिए कुछ बचत हो सके।' अंग्रेजी के प्रसिद्ध विश्वकोश 'इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका' को पूर्ण करने में अनेक विद्वानों ने अनेक वर्षों तक श्रम किया किन्तु बँगला और हिंदी विश्वकोश को अकेले श्रीबसु ने सम्पूर्ण जीवन की साधना से तैयार किया। संस्कृत का सब से बड़ा कोश 'वाचस्पत्य अभिधान' है। इसे विश्वकोश ही कहना चाहिए। यह बड़े चौपेजी साइज के ५६०० पृष्ठों में समाप्त हुआ है। इसे अठारह वर्ष तक निरन्तर श्रम करके श्री तारानाथ तर्क वाचस्पति ने पूरा किया था। स्वर्गीय रानडे एक क्षण कार्य या चिन्तन किये बिना नहीं रह सकते थे। वे सदा

किसी विषय का चिन्तन या मनन किया करते थे। अस्वस्थता में भी कुछ न कुछ करते रहते थे। मृत्यु से केवल दो दिन पहले जब डाक्टर ने पढ़ना-लिखना छोड़ने तथा श्रम न करने की सलाह दी तब आपने कहा था कि बिना काम किये यदि निरर्थक जीवन बिताने का समय आ जाय तो तत्काल ही अन्त हो जाना उससे कहीं अच्छा है। किसने यह बात नहीं सुनी होगी कि एक असाधारण मूर्ख और निरक्षर, जो पेड़ पर चढ़ा उसी डाल को काट रहा था जिसपर बैठा था, लगन और अध्यवसाय से विद्वत्-शिरोमणि और संस्कृत साहित्य का सर्व-श्रेष्ठ कवि कालिदास बन गया?

निरन्तर घर्षण से रस्सी पत्थर पर अपना अस्तित्व अंकित कर देती है; निरन्तर टकराने वाली लहरें चट्टानों का गर्व चूर कर देती हैं। किसी नदी-तट पर बिछे असंख्य बालुका-कण इस बात की गवाही देते हैं कि जल की धारा पत्थरों को पीस सकती है। क्षुद्र जलस्रोत से निकलने वाली जलराशि का मार्ग गर्वोन्नत पर्वत रोकते हैं पर क्या वे निरन्तर लगने वाले प्रहारों को रोक पाते हैं? नदी मार्ग बना लेती है और कठिनाइयों—सी चट्टानों पर से कूदती-फाँदती समतल भूमि पर आ जाती है। हमारे नगर, ग्राम, सड़कें, रेल की लाइनें, तार के खंभे सब केवल अध्यवसाय के ही परिणाम हैं। यही वह चीज़ है जो सब के लिए समान रूप से सहायक है और जिसका आश्रय प्रत्येक वर्ग, जाति और समाज का व्यक्ति ले सकता है।

यदि आप गरीब हैं तो यह आप के लिए धन कमा लायेगा; यदि आप पढ़ने में कमज़ोर हैं तो भी परवा नहीं, यह आपको परीक्षाओं में सफलता देगा; यदि आप यश के अभिलाषी हैं तो आप को यश देगा; यदि ज्ञान के रहस्यमय भाण्डारों की खोज में हैं तो उनकी झाँकी करायेगा; यदि आप बन्धनों में बँधे हुए हैं तो यह आपको मुक्ति का सन्देश देगा। यह दुःखी, पराजित, दीन और अशक्त मानव का एक मात्र आश्वासन है। संसार में जितने

भी महान् पुरुष हुए हैं, उनमें से अधिकांश का प्रारंभिक जीवन कठिनाइयों और असुविधाओं से पूर्ण था ; प्रायः उन्हें समाज के शक्तिमान वर्गों के विरोध का सामना करना पड़ा पर निरन्तर श्रम या अध्यवसाय से वे समस्त बाधाओं को दबा कर ऊपर उठ गये। जगत् में जो कुछ श्रेष्ठ है, जो कुछ भी दर्शनीय है, जो कुछ भी संग्रह योग्य है उसके पीछे सतत श्रम, अध्यवसाय की कहानी छिपी हुई है। जीवन के निर्माण के लिए हमारे हाथ में यह एक परम विश्वसनीय और शक्तिमान अस्त्र है। यह कभी धोखा नहीं देता, कभी शिथिल नहीं होता। और प्रत्येक मानव इसकी शक्ति पर निर्भर कर सकता है।

चारित्र्य

चारित्र्य बहुभावनामूलक शब्द है। इसका क्षेत्र विस्तृत है। इसमें प्रायः सर्व मानवोचित गुणों का समावेश हो जाता है। सत्य व ईमानदारी, त्याग, पर-दुःखकातरता, आदर्श के लिए दृढ़ता और कष्ट-सहन, स्वार्थहीनता, आत्मसंयम इत्यादि अनेक गुणों का इससे बोध होता है। यदि मानव में चरित्रबल नहीं है तो सब कुछ होते हुए भी वह खोखला है। चारित्र्य जीवन के एंजिन का ड्राइवर है—ड्राइवर भी ऐसा जो उसे ठीक रास्ते पर ले जाता है। ज्ञान जब आचरण में बदलता है तब चरित्र बनता है। इसके बिना ज्ञान निरर्थक है बल्कि यों भी कह सकते हैं कि वह और भयंकर हो जाता है। यह हृदय का दीपक है, जो न केवल जीवन के तमसाच्छन्न मार्गों पर प्रकाश की किरणें बिखेरता है वरं उसे आवश्यक उष्णता भी प्रदान करता है। जो वस्तु मानव-जीवन को पशु-जीवन से अलग करती है वह चरित्र ही है। जीवन इसी से जीवन है।

चारित्र्य को ही, साधारणतः, सदाचरण के नाम से भी पुकारा जाता है। सदाचरण में मनुष्य को चुम्बक के समान अपनी ओर खींच लेने के गुण वर्तमान हैं। यह मानव में आत्मा की शक्ति का विकास करता है। यह पशु-प्रवृत्तियों पर श्रेष्ठ दैवी गुणों की प्रतिष्ठा करता है। यह जीवन का मर्म और हृदय निकाल कर हमारे सामने रखता है। चरित्र के उत्थान के लिए आत्मनिरीक्षण की वृत्ति होना आवश्यक है। आत्मनिरीक्षण से ही मनुष्य को अपनी आन्तरिक दुर्बलताओं का ज्ञान होता है। इस ज्ञान के पश्चात् वह उन्हें दूर करने में यत्नवान होता है। वह अपनी दुर्बलताओं को सहन नहीं कर सकता

और जब तक उनका निराकरण और आत्मा की शक्ति की प्रतिष्ठा न हो जाय, वह चुप नहीं बैठता। आत्मशोध और आत्मशुद्धि ही चरित्र-निर्माण के साधन हैं।

चरित्र के लिए निर्भय होना पहली शर्त है। भयवश किया जानेवाला प्रत्येक काम मनुष्य को गिराता और दुर्बल करता है। जहाँ भय है तहाँ आत्मा या ईश्वर के अस्तित्व की अस्वीकृति है। अविश्वास, असत्य और कायरता इत्यादि दुर्गुण भय की ही संतति हैं। अभय मोहरहित अवस्था की पराकाष्ठा है। जबतक भय है, मानव आत्मा के दिव्य सन्देश को सुनने में असमर्थ है; अपने आदर्श के लिए दृढ़ता का भाव उसमें उत्पन्न न होगा।

हम देखते हैं कि एक कार्य को ठीक समझने पर भी जन-सम्मति के भय से बड़े-बड़े लोग दब जाते हैं, मृत्यु के भय ने वृहत् जन-समूहों को पराधीन और विपन्न बना रखा है। ज्यों-ज्यों मनुष्य भय से मुक्त होता है त्यों-त्यों उसमें उच्च प्रेरणाएँ विकसित होती हैं, त्यों-त्यों उसमें आदर्श के लिए त्याग करने और कष्ट सहने की शक्ति आती है। जीवन के लोभ से आदमी झूठ बोलता है; अपना शरीर, अपनी इज्ज़त बेच देता है; दूसरों का अहित करता है; वह निर्जीव के समान पग-पग पर घुटने टेक देता है। इसलिए जिसने भय को जीत लिया है, वही वस्तुतः जीता है। युरोप के प्रसिद्ध धर्म-सुधारक मार्टिन लूथर की शिक्षाओं से चिढ़कर पोप ने उसे एक आदेशपत्र भेजा। याद रखना चाहिए कि उस समय पोप की शक्ति अजेय थी। युरोप के बड़े बड़े शक्तिमान नरेश उसके भय से कांपते थे। उसका आदेश अनुलंघनीय था। पर लूथर ने पत्र को पोप के दूत के सामने ही फाड़कर जला दिया। पोप ने धमकी दी कि यदि तुम अपनी हरकतों से बाज न आओगे तो तुम्हारा सिर धड़ से अलग कर दिया जायगा। लूथर ने निर्भीकतापूर्वक उत्तर लिखा—"खेद है कि मेरे एक ही सिर है। यदि हजार सिर होते और वे सब इस इस धर्मयज्ञ में बलि

चढ़ाये जाते तो मैं अपने को धन्य मानता।"

उच्च चारित्र्य-बल के विविध उदाहरणों से हमारा प्राचीन इतिहास भरा पड़ा है। हरिश्चन्द्र का सत्यपालन, दधीचि का परोपकारार्थ अपनी हड्डियों का दान, शिवि का अपने शरीर से काट-काट कर मांस देना, भूखे रन्तिदेव का सामने की थाली दूसरे अतिथि को दे देना, विदेह जनक की अनासक्ति, भरत का राज्यत्याग और तप, राम का कर्तव्यपालन, कर्ण का दान, श्रीकृष्ण की अनासक्ति, गौतम का ज्ञान की खोज में सर्वस्व त्याग चारित्र्य के एक-से-एक उदात्त एवं सुन्दर उदाहरण हमारी सभ्यता ने हमारे आगे रख दिये हैं।

धन के बिना मनुष्य उठ सकता है, विद्या के बिना भी उन्नति कर सकता है, यश के बिना आत्मशक्ति का रहस्य जान सकता है पर चरित्र-बल के बिना वह सर्वथा हीन और पंगु है। और किसी गुण से इसकी तुलना नहीं हो सकती। अंग्रेज विद्वान सर वाल्टर स्काट से एक दिन उनके किसी मित्र ने कहा कि 'विद्या और लोकमान्यता ('नालेज ऐंड पापुलारिटी') ये दो गुण संसार में सबसे ऊपर हैं।' इसके उत्तर में स्काट ने कहा था कि 'यदि आपका मान ठीक हो तो मानव जीवन का मूल्य कुछ अधिक न होगा। मुझे अब तक के अध्ययन और विद्वानों के समागम से जो कुछ अनुभव हुआ है उस पर विश्वास रखकर मैं कह सकता हूँ कि संकटों के बीच जीवन व्यतीत करते हुए भी शान्ति, धैर्य, सन्तोष और संयम के जो आकर्षक उदाहरण मुझे दीन और अशिक्षित लोगों में मिले हैं वे श्रीमानों और विद्वानों में नहीं मिले।' निर्धन और धनवान, अशिक्षित और शिक्षित प्रत्येक प्रकार के मनुष्यों के लिए चरित्र-बल आवश्यक है। निर्धन की तो वह एक मात्र पूँजी है। धनवान के लिए उसकी निर्धन से भी अधिक आवश्यकता है क्योंकि धनवान के लिए प्रलोभन और वासना के जाल में फँसे रहने की अधिक सम्भावना है। चरित्रहीन धनवान चरित्रहीन निर्धन की अपेक्षा कहीं अधिक भयङ्कर होता है।

आचरणहीन ज्ञान या पांडित्य पाखंड मात्र है। सदाचरण का सम्बन्ध अन्तर से है। जिस आचरण में अन्तर का पूर्ण सहयोग नहीं है, वह सदाचरण नहीं है। हार्दिक भावना की शुद्धता मुख्य बात है। एक आदमी दान करता है, दूसरों की सहायता करता है पर उसके मन में दूसरों की दृष्टि में अपने को श्रेष्ठ प्रदर्शित करने का भाव है। एक व्यक्ति एक रोगी या कोढ़ी की सेवा में लगा है पर आकांक्षा यह है कि लोग उसे सन्त या महापुरुष समझने लगें। इसे सदाचरण या श्रेष्ठ चारित्र्य नहीं कह सकते। एक व्यक्ति सार्वजनिक कार्य में लाखों दे देता है फिर भी करोड़ों की सम्पत्ति उसके पास मौजूद है। दूसरा है जो अपना पेट काटकर दूसरों के हित के लिए थोड़ा दान करता है। किस दान का महत्व अधिक है? एक दीन मजदूर की श्रद्धापूर्वक दी हुई कौड़ी एक करोड़पति के लाखों के दान से अधिक महत्व रखती है। युरोप के प्रसिद्ध लेखक, 'नोबेल' पुरस्कार-विजेता नुत हैमसन ने एक स्थान पर लिखा है—'एक आदमी बहुत देता है पर उसके पास देने को तब भी बहुत शेष है, दूसरा थोड़ा देता है पर उसके पास देने को उसके सिवा कुछ नहीं है। किसने अधिक दिया?' निश्चित रूप से जो थोड़ा देकर भी निःस्व बन गया है; जिसे थोड़ा देने में बहुत त्याग करना पड़ा है, वही श्रेष्ठ दाता है। चरित्र का सम्बन्ध आत्मशुद्धि के साथ है और उसके लिए बाह्य त्याग की अपेक्षा आन्तरिक त्याग की अधिक आवश्यकता है। उसमें अन्तःकरण का योग होना ही चाहिए।

जब मैं यह लिख रहा हूँ तो मुझे एक प्राचीन कथा स्मरण आ रही है। इसका आख्यान महाभारत के वनपर्व में हुआ है। राजा युधिष्ठिर का राजसूय यज्ञ हो चुका था। उसके बाद की घटना है। ब्राह्मण और याजकगण एक स्थान पर बैठे हुए उस यज्ञ की बढ़ा-चढ़ाकर प्रशंसा कर रहे थे। अधिकांश का कहना था कि ऐसा यज्ञ न पहले कभी हुआ, न आगे कभी होगा। वे बात

कर ही रहे थे कि एक न्यौला वहाँ आया। इसका आगे का आधा अंग सुनहला था; स्वर्ण की भाँति आकर्षक था, नीचे का आधा सामान्य मटमैला रंग का था। उसने ब्राह्मणों से कहा—"तुम्हारा कथन सत्य नहीं है। मैंने अपनी आँखों से ऐसा यज्ञ देखा है जिसके सामने यह यज्ञ कुछ भी नहीं है। इस पर ब्राह्मणों को बड़ा आश्चर्य और कुतूहल हुआ। उन्होंने पूछा—"वह कौन सा यज्ञ था जिसे तुम इससे बढ़कर बतला रहे हो ?" न्यौला बोला—"सुनो, सुनाता हूँ। कुछ समय हुआ, व्यापक महा दुर्भिक्ष पड़ा था। अन्न-कष्ट से प्रजा हाहाकार कर रही थी। इस दुर्भिक्ष में एक ब्राह्मण गृहस्थ भी संकटापन्न था। उसके कुटुम्ब में चार प्राणी थे; एक ब्राह्मण, दूसरी उसकी धर्मपत्नी, तीसरा उसका पुत्र और चौथी पुत्रवधू। तीन दिनों से इन चारों को कुछ भी खाने को न मिला था। चौथे दिन वह ब्राह्मण कहीं से सेर भर सत्तू लाया जिसके चार भाग करके ये चारों पानी में घोल रहे थे कि इतने में किसी ने द्वार खटखटाया। ब्राह्मण ने उठकर द्वार खोल दिया। देखा, एक वृद्ध अतिथि सामने खड़ा है और पेट पर हाथ मार कर कहता है कि बाबा, आज चार दिन का भूखा हूँ, कुछ खाने को दे। यह सुनकर ब्राह्मण ने उसे आदरपूर्वक बैठाया और अपने भाग का सत्तू उसके आगे धर दिया। वह भूखा तो था ही; एक ही सपाटे में साफ़ चट कर गया और कहने लगा कि बाबा, इससे तो मेरी भूख और बढ़ गई। तब ब्राह्मण की धर्मपत्नी ने भी अपना भाग उसके सामने धर दिया। वह अतिथि उसे भी उदरस्थ कर गया और बोला—मेरी क्षुधा शान्त नहीं हुई। तब ब्राह्मण-पुत्र ने भी अपना भाग उसे दे दिया और जब उससे भी उसकी शान्ति नहीं हुई तो ब्राह्मण की पुत्र-वधू ने भी अपना भाग उसको अर्पण किया। उसको खाकर अतिथि ने तृप्ति भाव से डकार ली और ब्राह्मण को आशीर्वाद देकर वहाँ से चला गया। उसके चले जाने के बाद भूख के मारे उस कुटुम्ब के चारों प्राणी काल-कवलित हुए। मृत्यु ने उन्हें सदा के

लिए क्षुधा और पिपासा की यन्त्रणा से मुक्त कर दिया। अकस्मात् विचरता हुआ मैं वहाँ पहुँच गया। वहाँ उस सत्तू की भूसी पड़ी हुई थी। उस भूसी के स्पर्श होते ही मेरा यह आधा अंग सुनहला हो गया। तब से अब तक मैं बहुत से यज्ञों और उत्सवों में गया और इस यज्ञ के मण्डप में भी चारों ओर फिरा, जिसकी तुम लोग बड़ी प्रशंसा कर रहे हो पर मेरा आधा अंग ज्यों का त्यों मटमैला बना रहा, सुनहरा नहीं हुआ। इसी से मैं कहता हूँ कि यह यज्ञ उस गृहस्थ ब्राह्मण के यज्ञ की तुलना नहीं कर सकता।"

इस आख्यान में सच्चे त्याग, सच्चे चारित्र्य का रहस्य स्पष्ट हो गया है। परिमाण का नहीं, अन्तःसत्व, अन्तःसौख्य का सम्बन्ध चरित्रबल से है। एक आदर्श के लिए सब कुछ भेंट चढ़ा देने की शक्ति इस चरित्र से ही प्राप्त होती है। यह चरित्र का ही बल था कि प्रताप जीवन भर वनों और पर्वतों की धूल फाँकते रहे पर अपने सम्मान और अपने आदर्श का सौदा करना उन्होंने स्वीकार नहीं किया। यह चरित्र का ही बल था कि शत-शत सुकुमारि राजपूत नारियों ने शृंगार करके हँसते-हँसते मृत्यु को वरण किया पर अपनी इज्जत पर आँच न आने दी। यह चरित्र का ही बल था कि सिख गुरुपुत्रों ने प्राण दिया पर बलात् धर्म-परिवर्तन स्वीकार न किया।

चरित्रवान व्यक्ति आत्मा को धोका नहीं दे सकता; वह आत्म-वंचना नहीं करेगा। वह अपने प्रति पूर्णतः सच्चा—ईमानदार—होता है। इसीलिए वह दूसरों के प्रति भी सच्चा होता है। बड़े बड़े कारखाने और धन्धे अपनी साख पर चलते हैं और यह साख इसी बात पर निर्भर है कि उन कारखानों या धन्धों के स्वामी तथा कार्यकर्ता कितने सच्चे हैं; उनके आचरण में कितनी ईमानदारी है। प्रायः लोग समझते हैं कि व्यवसाय-व्यापार के लिए असत्याचरण आवश्यक है। यह अत्यन्त भ्रमात्मक धारणा है। पुराने ढंग की विभिन्न दुकानों एवं व्यवसायों में दिन में सैकड़ों का माल आता जाता रहता

है। इनकी कोई लिखा-पढ़ी नहीं होती। केवल भेजनेवाली दुकानें एक कागज पर नोट करती रहती हैं। और संध्या समय या नियत अवधि के पश्चात् रुपये मँगवा लेती हैं। न रसीद, न स्टाम्प और लाखों का व्यापार होता रहता है। प्रत्येक व्यवसाय के मूल में प्रवेश करके देखने से पता चलता है कि उसकी सफलता का रहस्य दृढ़ता और ईमानदारी है।

'फाक्स' इग्लैण्ड का प्रसिद्ध पुरुष और वक्ता था। उसको एक साहूकार का कुछ ऋण देना था। एक दिन वह साहूकार दस्तावेज लेकर फाक्स के घर गया। फाक्स उस समय मुहरें गिनकर एक थैली में भर रहा था। साहूकार ने पूछा, रक़म तो तुम्हारे पास है, फिर मेरा ऋण क्यों नहीं चुका देते? फाक्स ने कहा—"यह द्रव्य मुझे शेरिडन को आज ही देना है। क्योंकि तुम्हारे ऋण का तो दस्तावेज है पर उसके ऋण की कहीं कोई लिखा-पढ़ी नहीं है।" यह सुनकर साहूकार ने कहा—"तब तो मैंने दस्तावेज लिखा कर बड़ी भूल की।" और उसके सामने ही दस्तावेज फाड़ कर फेंक दिया और कहा—"लो, अब तो मैं भी ऋण पाने का अधिकारी हो गया।" यह देखकर फाक्स को बड़ा आश्चर्य हुआ और उस साहूकार का अपने प्रति विश्वास देखकर उसने उसी समय उसका सब ऋण चुका दिया।

स्वर्गीय देशबन्धु चित्तरंजन दास उन आत्माओं में थे जिन्हें रुपये से खरीदा या प्रभावित नहीं किया जा सकता था। वह कभी रुपये के गुलाम नहीं हुए, सदा उसे गुलाम रखा। एक घटना याद आती है। १६२१ ई० की बात है; कदाचित् अक्तूबर का महीना था। चित्तरंजन कुछ मित्रों के साथ किसी योजना पर विचार कर रहे थे कि एक महाजन अपना कर्ज उगाहने आया। उसके लगभग पाँच हजार रुपये बाकी निकलते थे। जब उसे दूसरे दिन आने को कहा गया तो भुनभुनाने और मुँह बनाने लगा। संयोग की बात कि इसी समय एक भारतीय तालुकेदार ने कमरे में प्रवेश किया। पहले चित्तरंजन

इनके मुकदमे की पैरवी कर चुके थे पर साल के प्रारंभ में छोड़ दिया था। उसने देशबन्धु से पुनः वह मुकदमा हाथ में लेने की प्रार्थना की और इसके लिए एक लाख रुपये पारिश्रमिक देने को कहा। 'न' कहने पर दो लाख कहा और अन्त में यह समझकर कि और रुपये चाहते होंगे, कहा कि 'आप स्वयं जो उचित समझें अपना पारिश्रमिक कह दें, मैं उतना ही दे दूँगा।' पर चित्तरंजन ने शान्तिपूर्वक मुस्कराते हुए इन्कार किया। इतने समय तक वह महाजन, जिसने ऋण दिया था, बैठा हुआ सब सुन रहा था। वह आश्चर्य-विमूढ़ हो गया था और जब चित्तरंजन कमरे के बाहर निकले तो वह, नशे में डूबे हुए आदमी की तरह, पीछे-पीछे बाहर आया और हाथ जोड़कर, आँखों में आँसू भरे हुए बोला—

"देवता! देवता! मेरी आँखों के सामने ही आपने दो लाख रुपये त्याग दिये और मैं पाँच हजार रुपये का तकाजा करने आपके पास आया! रहने दीजिए, हमारे रुपये!"

चारित्र्य का ऐसा ही प्रभाव मनुष्य पर पड़ता है। पर इन सब से उत्तम चारित्र्य का एक उदाहरण अंग्रेजी लेखक स्वेट मार्डेन ने दिया है। घटना एक अत्यन्त दीन लड़के से सम्बन्ध रखती है, इसलिए और भी महत्वपूर्ण है। उसी के शब्दों में घटना यों है—

नंगे पैर चीथड़े लपेटे हुए एक लड़के ने आगे बढ़कर एक राह चलते सज्जन से कहा—"महाशय, दो-चार डिब्बियाँ दियासलाई मुझसे खरीद लीजिए।"

उन सज्जन ने कहा—"नहीं भाई, मुझे दियासलाई नहीं चाहिए।"

"ले लीजिए, एक ही पेंस तो दाम है।" कह कर लड़का उनके मुँह की ओर देखने लगा। फिर भी उन्होंने कहा—"मुझे इनकी आवश्यकता नहीं है।"

"अच्छा, एक पेंस की दो डिब्बियाँ ले-लीजिए।"

किसी तरह लड़के से पिंड छुड़ाने के लिए उस भले आदमी ने एक डिबिया ले ली पर जब देखा कि पास में दाम देने को फुटकर नहीं है तो डिब्बी वापिस कर दी और कहा—"मैं कल खरीद लूँगा।"

लड़के ने फिर नम्रता से कहा—"आज ही ले लीजिए; मैं शिलिंग भुनाकर ला दूँगा।"

बालक की बात सुनकर उन्होंने उसे एक शिलिंग दे दिया। थोड़ी देर तक वह वहीं खड़े रहे पर लड़का न लौटा। उन्होंने सोचा कि कदाचित् अब शेष रक़म न मिलेगी। कुछ देर और राह देखकर वे अपने घर चले गये।

संध्या समय नौकर ने आकर सूचना दी कि एक लड़का आपसे मिलना चाहता है। उत्सुकता-वश उन्होंने तुरन्त उसे अन्दर बुला लिया। देखते ही समझ गये कि कदाचित् यह उस लड़के का छोटा भाई होगा। यह लड़का सुबह वाले लड़के से भी अधिक चीथड़ों से लिपटा हुआ था। शरीर की एक-एक हड्डी दिखाई दे रही थी; हाँ, मुख पर चमक थी। थोड़ी देर चुप रहने के बाद उसने कहा—"क्या आपने ही मेरे भाई से सुबह दियासलाई की एक डिब्बी खरीदी थी?"

"हाँ।"

"लीजिए अपनी बाकी रकम। मेरा भाई स्वयं न आ सका। उसकी तबीयत ठीक नहीं है। वह एक गाड़ी से टकरा गया और गाड़ी उसके ऊपर से निकल गई। उसकी टोपी, दियासलाई की डिब्बियाँ और आपकी बाकी रकम न मालूम कहाँ छिटक गई। उसकी दोनों टाँगें टूट गईं। वह अच्छा नहीं है। डाक्टर कहते हैं, वह बचेगा नहीं। उसने किसी तरह जुटाकर यह रकम भेजी है।" इतना कहकर बालक रोने लगा। भद्र पुरुष का हृदय विह्वल हो गया। वह घायल लड़के को देखने उसके घर गये।

जाकर देखते हैं कि वह अनाथ बालक एक बूढ़े शराबी के घर में रहता है। लड़का फूस पर लेटा हुआ था। इन्हें देखते ही वह पहचान गया और लेटे-लेटे ही बोला—"मैंने आपकी दी हुई शिलिंग भुना ली थी और लौटकर आ ही रहा था कि घोड़े से टकरा कर गिर पड़ा और मेरी दोनों टाँगें टूट गईं।" इतना कहकर बालक दर्द से कराहता हुआ,अपने छोटे भाई से बोला—"प्यारे भैया, मेरी तो मौत आ रही है, पर तुम्हारा क्या होगा? तुम्हारी देख-भाल कौन करेगा? हाय, मेरे न रहने पर तुम क्या करोगे?" इतना कहकर उसने उसे गले लगा लिया। उसकी आँखों से आँसू बह रहे थे।

उक्त सज्जन ने दुखी बालक का हाथ अपने हाथ में लेकर कहा—"बेटा, तुम चिन्ता न करो। मैं तुम्हारे भाई की रक्षा करूँगा।"

बालक आश्वस्त हुआ। उसकी शक्ति प्रति क्षण क्षीण हो रही थी, फिर भी संपूर्ण बची-खुची शक्ति एकत्र करके उसने उनकी ओर देखा। आँखों से धन्यवाद और कृतज्ञता के भाव साथ-साथ निकल रहे थे। हृदय कुछ कहना चाहता था पर शब्द मुँह से न निकलते थे। बस, उसकी आँखें बन्द हो गईं।

एक गरीब बालक, जिसे खाने का ठिकाना नहीं, घायल पड़ा हुआ, मृत्यु की ओर बढ़ता हुआ भी न भूला कि उसे कुछ पैसे लौटाने हैं। उसने उस हालत में, जब उसका दम उखड़ रहा था, अपने छोटे भाई को उन सज्जन का चेहरा-मोहरा और घर की स्थिति का अन्दाज़ बताकर उनके पास भेजा। चारित्र्य के ऐसे दृष्टान्त अत्यन्त दुर्लभ हैं। पर ये ही दृष्टान्त हैं जो जीवन-मार्ग में लगी काई पर फिसल कर पतन के गर्त में गिरते हुए पाँवों को रोक लेते हैं और हृदय को उच्च प्रेरणाएँ प्रदान करते हैं।

गांधी जी के एक मित्र और सहयोगी श्री केलनबैक थे। यह जर्मन थे और दक्षिण अफ्रीका में एक प्रसिद्ध इंजीनियर थे। गांधी जी के साथ रहकर उनका जीवन भी बिल्कुल बदल गया था; वह भी साधु प्रकृति के हो गये

थे। दक्षिण अफ्रीका में वह प्रायः गांधी जी के साथ रहते थे। जब उन्हें मालूम हुआ कि कुछ लोग गांधी जी को मारने की ताक में हैं तो वह सदा परछाईं की तरह गांधी जी के साथ रहने लगे। कुछ दिन बाद गांधी जी को सन्देह हुआ और अनुमान से उन्होंने सब बातें जान लीं। एक दिन उन्होंने केलेनबैक की जेब में हाथ डाला तो उसमें एक तमंचा मिला। उन्होंने कड़क-कर पूछा—"हैं! क्या महात्मा टाल्सटाय के शिष्य भी शस्त्र साथ रखते हैं?"

केलेनबैक ने धीरे से कहा—"आवश्यकता होने पर रखना ही पड़ता है।"

गांधी जी ने और कड़ककर पूछा—"तमंचा साथ रखने की कौन सी आवश्यकता आ पड़ी है?"

केलेनबैक ने कुछ घबराहट के साथ उत्तर दिया—"मुझे सूचना मिली है कि कुछ लोग आप पर आक्रमण करने वाले हैं, इसी से मैं तमंचा रखता हूँ।"

गांधी जी ने कहा—"मेरी रक्षा की जिम्मेदारी तुमने अपने ऊपर ले रखी है! क्या इस तमंचे से तुम मेरी रक्षा करोगे?"

केलेनबैक चुप रहे। गांधी जी बोले—"और इस तमंचे से ही मेरी रक्षा होती हो तो मैं अभी इसी से अपने शरीर का अन्त कर डालता हूँ। तब तुम क्या करोगे? मेरे मित्र, यदि तुम मेरे सच्चे स्नेही होते तो इस शरीर पर तुम्हारा इतना मोह होना सम्भव ही न था। स्नेह केवल शरीर की ही रक्षा नहीं करता, आत्मा की भी रक्षा करता है। शरीर आज नहीं तो कल अवश्य नष्ट हो जायगा। स्नेह के लिए ऐसी क्षणभंगुर वस्तु पर आसक्ति रखना अनुचित है। उसे अमरत्व की अभिलाषा रखनी चाहिए। यदि तुम मेरे सच्चे मित्र हो तो तमंचे से मेरी रक्षा करने का विचार छोड़कर इसे फेंक दो।" उस दिन से केलेनबैक ने तमंचे को छुआ तक नहीं।

उन्हीं दिनों की बात है कि सत्याग्रह की अन्तिम लड़ाई के सिलसिले में

गांधी जी डरबन से जोहान्सबर्ग जाने वाले थे। तब यह बात मालूम हुई कि कुछ लोगों ने मार्ग में उनकी हत्या करने का षड्यंत्र रचा है। एक आदमी ने सब बातें गांधी जी से कहीं और प्रार्थना की कि जोहान्सबर्ग न होकर बाहर-बाहर नेटाल जायें। इसपर गांधी जी ने उत्तर दिया—"यदि मरने के भय से जोहान्सबर्ग न जाऊँ तो मैं सचमुच ही जीवित रहने के योग्य नहीं। मैं वहाँ जाऊँ और मारनेवालों की योजना सफल हो जाय तो मुझे सन्तोष होगा। कदाचित् ईश्वर की यही इच्छा हो कि मैं अपना काम पूरा कर चुका और अब बुला लिया जाऊँ।"

केलेनबैक इस अवसर पर जोहान्सबर्ग में ही थे। उन्होंने यह बात सुनी तो उस आदमी से, जिसने उन्हें यह बात सुनाई थी, कहा—"हम लोगों की अपेक्षा गांधी जी अधिक अच्छी तरह अपनी रक्षा करने में समर्थ हैं। और उनसे भी अधिक ईश्वर उनकी रक्षा करता है।"

गांधी जी जोहान्सबर्ग गये। वहाँ लोगों ने उनका खूब स्वागत किया। १९०८ में जिन चार पठानों ने गांधी जी पर आक्रमण किया था, उनमें से एक वहाँ उपस्थित था। उसे जब इस षड्यंत्र की सूचना मिली तो उसने गांधी जी की रक्षा का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लिया और उनके वहाँ पहुँचते ही उनके चरणों पर लोटने लगा! अभय और आत्मबल का यह एक उदाहरण है।

* * *

यदि हम इतिहास के पन्ने उलटें, महापुरुषों के जीवनचरितों का अध्ययन करें, या अपने आस-पास के व्यक्तियों के जीवन में प्रवेश करें तो चारित्र्य के अनेक गुणों के अगणित उदाहरण हमें मिलेंगे। मानव समाज का अस्तित्व ही उन गुणों पर निर्भर है, जिन्हें चारित्र्य के सामूहिक भावार्थ में पुकारा जाता है। वाल्टेयर का मत है कि वही आदमी महान् है जिसने मानवजाति का कुछ कल्याण किया हो, जिसके द्वारा किसी दुखिया का दुःख कम हुआ

हो, जिसने अपने बाहुबल से अनाथों और अबलाओं के उत्थान में सहायता की हो, जिसने नई बातों की खोज करके रोगग्रस्त मानवजाति का दुःख घटाया हो, जिसने सब को अपना भाई समझकर उनके कल्याण और सुख का प्रबन्ध किया हो, जो किसी को संकट में देखकर उसकी सहायता को दौड़ पड़ता हो अथवा जिसने समाज वा राष्ट्र के उद्धार के लिए अपना बलिदान कर दिया हो। मानवजीवन का सौख्य, सार्थकता उच्च त्यागपूर्ण जीवन में है, जिसमें अपना कल्याण और दूसरों का हित हो। अनुचित, पतनमार्गों का अनुसरण करनेवाले धनलोलुप व्यक्तियों से मानवता स्फूर्ति नहीं ग्रहण करती, न उनके द्वारा इतिहास का निर्माण होता है। मार्डेन पूछता है—"क्या तुम उस भद्दी सूरतवाले आदमी को सफल कहते हो? क्या उसकी सूरत उसके धन-संचय की विधि की घोषणा नहीं कर रही है? क्या तुम उस बड़ी तोंद वाले को सफल कहते हो? क्या दीन-दुखियों को धोखा देकर धन संग्रह करने के उसके हथकंडों से तुम परिचित नहीं हो? क्या तुम उसके चेहरे पर अनाथ बालकों और विधवाओं के दुःख का इतिहास नहीं पढ़ सकते? क्या तुम उस व्यक्ति को स्वयं निर्मित पुरुष कह सकते हो जो दूसरों को मिटाकर बना है, जो दूसरों का घर गिराकर अपना घर बनाता है? क्या दूसरों को निर्धन बनानेवाला व्यक्ति वास्तव में धनवान है? क्या वह आदमी कभी सुखी रह सकता है जिसकी नस-नस में लोभ भरा हुआ है?..... संसार को ऐसे व्यक्तियों की आवश्यकता है जो धन के लिए अपने को बेचते नहीं; जिनके रोम-रोम में ईमानदारी भरी हुई है; जिनकी अन्तरात्मा दिशादर्शक यंत्र की सुई के समान एक शुभ तारे की ओर देखा करती है; जो सत्य को प्रकट करने में राक्षस का सामना करने से भी नहीं डरते; जो कठिन कार्यों को देखकर हिचकते नहीं; जो अपने नाम का ढिंढोरा न पीटते हुए साहसपूर्वक काम करते जाते हैं। ...मेरी दृष्टि में वही सबसे बड़ा आदमी है, वही महान् है जो मुझे मेरे आस

पास की तुच्छ बातों और कुरीतियों के बन्धनों से मुक्त कर देता है, जो मेरी वाणी को स्वतन्त्र कर देता है और मेरे लिए सम्भावनाओं के कपाट खोल देता है।"

चरित्रबल ही मानव सभ्यता का दीपक है। यही हमें अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जाता है हममें से प्रत्येक को लार्ड केनिंग के शब्दों में संकल्प करना चाहिए कि 'मैं चरित्र के मार्ग पर चलकर शक्ति प्राप्त करूंगा और मैं दूसरे मार्ग का सहारा न लूँगा।'

स्वास्थ्य

मन और शरीर का स्वाभाविक विकास और अपने नियत कार्य करने की शक्ति का नाम स्वास्थ्य है। चाहे मनुष्य अपने कार्य के लिए कोई भी क्षेत्र चुने, चाहे वह किसी सिद्धान्त का अनुयायी हो, स्वास्थ्य प्रत्येक अवस्था में जीवन की सफलता के लिए आवश्यक है। अस्वस्थ मन और शरीर न केवल व्यक्ति के लिए बल्कि समाज के लिए भी घातक हैं।

यह शरीर वस्तुतः आत्मा का परिच्छद—पोशाक—है। यह हमारी चैतन्य शक्ति का आवरण है। और उसको क्रियात्मक रूप देने का साधन भी है। यह देवता के मंदिर के समान है। इस दृश्य शरीर के भीतर मन की अद्भुत् अदृश्य शक्तियाँ, प्राण शक्ति का अमित एवं सनातन प्रवाह तथा आत्म-शक्ति की अमर प्रेरणाएँ भरी हुई हैं। इसलिए शरीर और मन दोनों को स्वस्थ रखने से ही मनुष्य अपनी सम्पूर्ण सत्ता और शक्ति का अनुभव कर सकता है।

प्रकृति ने मनुष्य को जो शरीर-यंत्र दिया है वह अद्भुत् है। दुनिया का कोई दूसरा यंत्र उसकी समता नहीं कर सकता। शरीर मनुष्य के हाथ में ईश्वर या प्रकृति की अद्भुत् देन है। यदि हम प्राकृतिक जीवन व्यतीत करें, इस यंत्र को अपने वश में रखें तो इसकी सहायता से हम आश्चर्यजनक कार्य कर सकते हैं। इसी शरीर-यंत्र और उसके पीछे की मनःशक्ति पर नियंत्रण रखकर योगी असाधारण शक्तियाँ प्राप्त कर लेते हैं। वे अपने हृदय की गति बन्द कर सकते हैं, धमनियों में रक्त के प्रवाह को नियंत्रित कर सकते हैं और श्वास क्रिया बन्द करके भी जीवित रह सकते हैं। तुषारधवल हिमालय की ऊँचाइयों पर वे नंगे ध्यानमग्न हो सकते हैं।

यह सब शक्ति हमारे अन्दर भरी हुई है। किन्तु समाज में सर्वत्र बीमारी और कष्ट है, सर्वत्र पीड़ा है। यह रोग, यह शोक, यह कष्ट, यह यातना क्यों है ?

जब किसी रोगी से आदमी पूछता है—कैसे बीमार पड़े, तो वह उत्तर देता है, सरदी लग गई होगी, पानी में भीग गया था, या यह कि पता नहीं कैसे क्या हुआ; धार्मिक प्रकृति के लोग कहते हैं—क्या करें, कर्म का भोग है; ईश्वर की यही इच्छा है।

जो आदमी ऐसी बातें कहता है वह अपने को धोका दे रहा है। क्या वह बिना कोई गलती किये बीमार पड़ गया ? क्या सिरजनहार प्रभु की इच्छा यह है कि मनुष्य दुःखमय जीवन व्यतीत करे, रोगी और अपाहिज होकर जिये ? उसने मनुष्य को सब शक्तियाँ दी हैं। उसने हमारे जीवन के लिए आवश्यक वस्तुएँ ही हमें नहीं दी हैं बल्कि उसे आनन्द और सौन्दर्य से पूर्ण करने वाली सुविधाएँ भी हमें दी हैं। तब भी हम रोगी और पीड़ित हैं।

जब भी हम बीमार पड़ते हैं तो अपनी गलती से पड़ते हैं। प्रकृति अपने नियमों के उल्लंघन का जो दंड हमें देती है, वही बीमारी है। यह भी प्रकृति की ओर से चेतावनी है और है उसके द्वारा हमारे शरीर को पुनः निर्दोष करने का प्रयत्न। हम इतना खा लेते हैं कि हमारे पाचक यंत्र बिगड़ जाते हैं; तब मुँह फीका हो जाता है, शरीर भारी लगता है। कुछ खाने की इच्छा नहीं होती; प्रकृति हमें उपवास अथवा लघु आहार के लिए विवश करती है और इस प्रकार पाचक यंत्र को ठीक करती है। जब शरीर में कोई विजातीय द्रव्य या कोई विष प्रविष्ट हो जाता है तब ज्वर चढ़ता है या फोड़े-फुंसियाँ निकलती हैं। ज्वर में सारा शरीर विजातीय द्रव्य को बाहर निकालने में प्रयत्नशील होता है। जैसे शत्रु के क़िले में घुस आने या चोर के मकान में आजाने पर सारा उपस्थित समाज उसे पकड़कर दण्ड देने या बाहर भगा देने का प्रयत्न करता

है, एक हलचल-सी मच जाती है वैसे ही शरीर में किसी प्रकार के विजातीय द्रव्य के प्रवेश या विष के उत्पन्न होने पर सम्पूर्ण शरीर क्रियाशील तथा सन्नद्ध हो उठता है। तीव्र ज्वर चढ़ जाता है, जिससे पानी के द्वारा विष बाहर निकल सके। हृदय की गति तीव्र हो जाती है, नाड़ियों में खून तेजी से दौड़ने लगता है। सब अतिरिक्त परिश्रम करके शत्रु पर विजय प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं।

शरीर की प्रकृति स्वयं रोगों का सामना करती है। नैसर्गिक रूप से आरोग्य, स्वास्थ्य, शरीर या मन की स्वाभाविक स्थिति है। अपनी अदूर-दर्शिता और अपनी ग़लतियों से हम अपनी वह शक्ति नष्ट कर देते हैं। हमी स्वयं अपने शत्रु और मित्र हैं। हम अपनी ही ग़लतियों के कारण बीमार पड़ते हैं; अपनी ग़लतियों को समझ और दूर कर ही हम स्वस्थ रह सकते हैं।

याद रखिए, शरीर और मन की अपार शक्ति प्रभु ने हमें जीवन के उच्च आदर्शों की सिद्धि के लिए प्रदान की है; यह नष्ट करने के लिए नहीं है, अपव्यय के लिए नहीं है। अस्वस्थ मनुष्य जीवन में कोई महत् कार्य नहीं कर सकता। वह लम्बी-चौड़ी कल्पनाएँ करता है पर कर कुछ नहीं पाता। जब वर्षा की सुहावनी बूँदें समस्त जगत् को प्राणमय करती हैं तब उसका शरीर दर्द से कराह उठता है; जब वसन्त में नूतन जीवन का उन्मेष होता है, तब वह मन में कुढ़ता रहता है। खा नहीं सकता, पी नहीं सकता। सोच नहीं सकता, कोई बड़ा काम नहीं कर सकता। जीवन का दृष्टिकोण ही विषाद-पूर्ण हो जाता है।

जिसे जीवन में कुछ करना है; जो जीवन में पौरुष का सन्देश सुन चुका है, जिसमें महत्वाकांक्षाएँ हैं; जिनके मन में कुछ स्वप्न, कुछ आदर्श हैं उसके लिए स्वास्थ्य का विचार करना और स्वस्थ रहना प्रथम आवश्यकता है। यह

सुन्दर प्रकृति, यह स्वच्छ नीलाकाश, यह हमारे प्राणों में प्रतिक्षण अमृत के घूँट भरने वाली मुक्त वायु, ये हँसते फूल, अन्धकार की छाती पर चढ़कर प्रकाश की भाषा बोलने वाले चन्द्र और तारे, समस्त जीवन और प्रकाश का दाता सूर्य; ये कल-कल करती हुई नदियाँ, ये पहाड़ों के हृदय से झरने वाले झरने, सब स्वास्थ्य और आनन्द का सन्देश देते हैं। इस सन्देश को सुनने के लिए तुम्हें प्रकृति के निकट आना है। तुम प्रकृति को देखो, उससे खेलो, उसे अपने हृदय में प्रवेश करने दो। प्रातःकाल आलस्य और अँगड़ाइयों के ज्वार-भाटे से ऊपर उठो; एक झटके में बिस्तर छोड़ दो। मुँह धोओ; आँखों में छींटे दो और बाहर भागो। बाहर नगरों के अप्राकृतिक, कृत्रिम वातावरण से दूर जाओ, जहाँ प्रकृति के दर्शन हों, जहाँ हवा की गति रोकने वाली हवेलियाँ न हों। दौड़ो, हँसो, उछलो, कूदो, जीवन को उभड़ने दो, शुद्ध वायु को अपने अन्दर जितना ग्रहण कर सको, करो। अमृत समझ कर उसे पिओ। शरीर के प्रत्येक घटक से इस प्राणवायु का स्पर्श होने दो। जब उषा हँसती हुई आवे उसे देखो। मिटता हुआ अन्धकार; अन्धकार पर प्रकाश-किरणों की उत्तरोत्तर विजय! सम्पूर्ण सुपुप्त जीवन जागता हुआ!

फूलों के पास जाओ। उनकी प्रसन्नता अपने प्राणों में भरो; उनके रंग और उनका सौन्दर्य अपने में आने दो; विषाद का वातावरण नष्ट हो जाने दो और अपने चतुर्दिक आशा का प्रकाश फैलने दो। इन फूलों से खेलो; हँसो; बातें करो। उनकी सुगन्ध अपने प्राणों में बसने दो; उनकी मुस्कराहट अपने गालों पर फैलने दो। उनका प्रकाश अपनी आँखों में आने दो। सब कृत्रिम बन्धनों को तोड़ कर, प्रकृति के साथ एक होने की, ऐक्य का अनुभव करने की चेष्टा करो।

बच्चों में बच्चे बनकर खेलो। खिलखिलाकर हँसो। दिन में कम से कम एक बार इस तरह हँसो कि शरीर की सब नसें हिल जायँ। मुक्त, निर्द्वन्द्व,

बेबनावट की हँसी।

कभी बेकार न बैठो। अपने काम हाथ से करने में शर्म, आज की सभ्यता का वह पाप है जो हमें डुबा रहा है। घर का कुछ काम करो, पैसे वाले हो तो भी कुछ शरीर—श्रम करो। अपने बाग़ में काम करो, अपने कमरे की सफ़ाई करो, तैरो, दौड़ो, नाव चलाओ। मतलब शरीर से नित्य कुछ काम लेने की आदत डालो; उसे निकम्मा और सुस्त न होने दो। उस पर काबू रखो। आज-कल जिसे कुछ काम नहीं है, जो निठल्ला बैठ सकता है और अपना समय गप-शप, ताश-शतरंज या नाविलबाजी में बिताता है या बिता सकता है वह भाग्य-वान समझा जाता है। यह भाग्य शब्द का कैसा अनर्थ है। मैं ऐसे भाग्यवान को संसार का अत्यन्त दयनीय प्राणी मानता हूँ। जिसे काम खोजना है या जिसको समय बिताने का उपाय सोचना पड़ता है, ऐसे व्यक्ति को मैं अभागा समझता हूँ। चाहे उसके पास संसार की सम्पूर्ण सम्पदा हो और सुख के सम्पूर्ण साधन वर्तमान हों पर उसे तो केवल जीवन की निष्फलता का ही स्वाद मिलता है। ये आदमी जीवन्मृत हैं; इनके समग्र जीवन पर मृत्यु का अन्ध-कार छा गया है।

भूलकर ऐसे अपाहिज न बनो। स्वस्थ जीवन जहाँ संयम से गंभीर होता है तहाँ वह स्फूर्ति और ओज से चंचल भी होता है। जवानी पर बुढ़ापे की क़लम लगाने वाली शिक्षा और सभ्यता से बचकर रहो। खूब श्रम करो—ऐसा श्रम कि पसीने में सम्पूर्ण आलस्य बह जाय। देखो, रात को कैसी गहरी नींद आती है—बच्चों वाली नींद। कंकड़-पत्थरों की शय्या पर भी फैल जाने वाली नींद। वह नींद जो आधुनिक सभ्य आदमी के लिए स्वप्न हो गई है और जिसके अभाव में हम केवल उस नींद से परिचित हैं जो गुदगुदे बिछौने और मुलायम तकियों पर करवटें बदल बदल कर बुलाई जाती है। परिश्रम करो और देखो, सूखी रोटियाँ चबाने में भी कैसा स्वाद आता है। स्वाद के

लिए नहीं, स्वास्थ्य और जीवन के लिए भोजन करो। पेट की पाचन शक्ति को सुस्वादु भोजनों के बोझ से निष्क्रिय एवं शिथिल न होने दो; जठराग्नि पर राख न डालो; उसे हलका रखो और प्रदीप्त होने दो। तब जो ग्रास तुम्हारे अन्दर जायगा, शक्तिस्रोत में बदलकर रहेगा।

विचारों का शरीर पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है। जो मनुष्य सदैव अच्छे, कल्याणकारी विचारों को अन्तस्तल पर उठने देता है वह रोग और शोक को दूर रखने का एक कारगर उपाय पा गया है। मानव शरीर सर्वत्र पेशियों से भरा हुआ है। ये पेशियाँ अगणित लघु घटकों या कोषों से निर्मित हुई हैं और इन कोषों की रचना असंख्य परमाणुओं से हुई है। ये सब परमाणु जीवनतत्वांश से पूर्ण हैं। हम जो विचार करते हैं उससे शरीर की ग्रंथियों अतः पेशियों में एक प्रकार का रस द्रवित होता रहता है। यदि विचार जीवनप्रद, प्राणोन्मेषक हुए तो यह रस शरीर के घटकों में चैतन्यांश एवं स्फूर्ति की वृद्धि करता है और शत-शत जीवन-घटकों को जन्म देता है। यदि विचार दूषित हुए तो यह घटकों को मूर्च्छित, शिथिल और नष्ट करता है। मनोविकारों के कारण रुधिर में प्राणप्रद या नाशक रस मिलता रहता है। अच्छे विचार, इसीलिए, बलवर्द्धन करते हैं; निकम्मे विचार बलनाश करते हैं। जब आदमी क्रोध से तमतमा उठता है तब शरीर का ताप बहुत बढ़ जाता है और सैकड़ों जीवकोष उस ताप में नष्ट हो जाते हैं। इसीलिए क्रोध के बाद क्रोध करने वाले को गहरी सुस्ती और शिथिलता का अनुभव होता है।

इसीलिए कहता हूँ कि स्वास्थ्य का रूप यद्यपि शारीरिक है परन्तु उसका मूलरूप मानसिक है। स्वस्थ मन के बिना स्वस्थ शरीर संभव ही नहीं है। अंग्रेज लेखक स्वेट मार्डेन ने एक आदमी का जिक्र किया है। यह आदमी बड़ा मनहूस था। वह सदा दुखी, और निराश रहा करता

था। उत्साह का उसमें नाम भी न था। सदा चिन्तित और खिन्न रहने के कारण उसका जीवन एक प्रकार से बिल्कुल नष्ट हो गया था। उसे अपने ऊपर जरा भी विश्वास न रह गया था और उसके मन में यह बात पैठ गई थी कि अब इस जीवन में मुझसे कुछ काम न हो सकेगा। दैवयोग से कुछ दिनों बाद उसका विवाह एक ऐसी स्त्री से हो गया जो बहुत ही प्रसन्न स्वभाव की थी और सदा हँसा करती थी। यह स्त्री जब भी अपने पति को उदास, खिन्न और दुखी देखती हँस पड़ती थी और उसका खेद दूर करके उसे भी हँसा देती थी। कुछ दिनों तक उस स्त्री के साथ रहने के बाद उस निराश और दुखी आदमी की मनोवृत्ति भी बदल गई और वह प्रसन्न रहने लगा। उसका जीवन और चरित्र पर बहुत ही अच्छा प्रभाव पड़ा। थोड़े ही दिनों में उसका पूर्व जीवन बदल गया। उसका मन आशा और विश्वास से पूर्ण हो गया और वह जो काम करता उसी में उसे सफलता होती। एक घटना भारत में काम करने वाले एक नवयुवक अंग्रेज अफसर के विषय में बताई जाती है। वह अफसर अधिक श्रम और यहाँ की भयंकर गर्मी न सह सकने के कारण बहुत दुखी और अपने स्वास्थ्य के विषय में चिन्तित हो गया था। इस श्रम-शैथिल्य तथा चिन्ता के कारण उसकी तबीयत कुछ खराब रहने लगी। वह एक अच्छे डाक्टर के पास गया। डाक्टर ने बहुत अच्छी तरह उसकी जाँच की और कहा कि तुम्हारे स्वास्थ्य आदि के सम्बन्ध में सब बातें मैं कल एक पत्र में लिखकर तुम्हारे पास भेज दूँगा। दूसरे दिन उसे डाक्टर का एक पत्र मिला जिसमें लिखा था कि तुम्हारा बायाँ फेफड़ा बिल्कुल खराब और बेकाम हो गया है। जिगर भी बिल्कुल खराब हो गया है। इसलिए उचित है कि तुम अपने सब कामों की बहुत जल्द पूरी व्यवस्था करलो। यद्यपि अभी कई हफ्तों तक तुम जीवित रहोगे पर तुम्हारे लिए उचित यही है कि अपना कोई महत्वपूर्ण कार्य अनिश्चित दशा में मत छोड़ो और उसकी ठीक-ठीक व्यवस्था

कर लो। इस पत्र का उस नवयुवक अफसर पर बहुत ही बुरा प्रभाव पड़ा और उसकी दशा खराब होने लगी। पहले चौबीस घंटों के अन्दर ही उसे कलेजे में बहुत ज़्यादा दर्द होने लगा और सांस लेने में बहुत कठिनाई अनुभव होने लगी। वह अपने मन में यही धारणा करके विस्तर पर पड़ गया कि अब मेरी मृत्यु निकट आ गई है और मैं फिर विस्तर से उठ न सकूँगा। रात के समय उसकी दशा और भी जल्दी जल्दी खराब होने लगी। उसने अपने नौकर को भेजकर डाक्टर को बुलवाया। डाक्टर को अफसर की ऐसी दशा देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने कहा कि कल तो जब मैंने तुम्हें देखा था तब तुम्हारी यह दशा न थी। एक ही दिन में तुम्हें यह क्या हो गया?

वह युवक अफसर बहुत कमजोर हो गया था। उसने बहुत ही धीमे स्वर में कहा कि मेरे जिगर में कोई भारी रोग हो गया है।

डाक्टर ने कहा—जिगर में? कल तो तुम्हारा जिगर बिल्कुल ठीक था।

युवक ने पूछा—और फेफड़ों का क्या हाल है?

डाक्टर ने उत्तर दिया—आखिर तुम्हें हो क्या गया है। तुमने शराब तो नहीं पी? तुम्हारे फेफड़े तो ठीक हैं।

रोगी ने बहुत ही धीरे से कहा—यह सब तुम्हारे पत्र की कृपा है। तुम्हीं ने न कल अपने पत्र में लिखा था कि अब तुम कुछ ही हफ्तों तक जिओगे?

डाक्टर ने कहा—मेरे लिखने का मतलब सिर्फ यह था कि तुम कुछ हफ्तों के लिए पहाड़ पर चले जाओ तो तुम्हारी तबीयत बिल्कुल ठीक हो जायगी।

रोगी के मुँह पर मुर्दनी छाई हुई थी और उसके शरीर में कुछ भी दम न था। उसने बड़ी कठिनता से अपने सिरहाने से डाक्टर का वह पत्र निकाल कर उसे दिखाया। उसे देखते ही डाक्टर चिल्ला उठा—'अरे! यह तो

दूसरे मरीज़ के नाम का पत्र था। जान पड़ता है, मेरे सहकारी ने भूल से तुम्हारे लिफ़ाफ़े में दूसरे रोगी का पत्र रख दिया।'

इतना सुनते ही वह रोगी उठकर बैठ गया। और कुछ ही घंटों में बिल्कुल भला चंगा हो गया।*

इस प्रकार के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। इनका अभिप्राय इतना ही है कि विचार और कल्पना का शरीर पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। स्वस्थ शरीर के लिए स्वस्थ मन और स्वस्थ मन के लिए स्वस्थ शरीर आवश्यक है। मन और शरीर में अमित शक्तियाँ, भरी पड़ी हैं। इनके पीछे शक्ति का दिव्य स्रोत है। तुम स्वस्थ और उन्नत दशा में रखकर इस शक्ति-स्रोत में अवगाहन करके सुख, शान्ति और निर्मल तथा सफल जीवन का आनन्द प्राप्त कर सकते हो। याद रखो, जहाँ रोग है, शोक है; जहाँ स्वास्थ्य है, वहीं शक्ति और आनन्द है।

---

* सफलता, समृद्धि और शान्ति ११२-११३ ।

शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा

एक दिन ऋषि ने जो वाणी अमृत के पुत्रों को सुनाई थी, वह मानवता के हृदय में, आज सहस्रों वर्षों के पश्चात् भी ज्यों की त्यों गूँज रही है। 'अमृत के पुत्र' शब्द मात्र में जीवन की कैसी उदात्त कल्पना है। आज कोटि-कोटि मनुष्य मृत्यु, रोग, शोक, दीनता, दुर्बलता के जाल में फँसे हुए अत्यन्त विपन्न जीवन बिता रहे हैं। क्या मनुष्य इसीलिए उत्पन्न हुआ है कि वह जन्म भर कष्ट उठाये और एक दिन, अत्यन्त विवशता के साथ, मृत्यु के भयंकर जबड़ों से चबा लिया जाय? क्या हम पंगु हैं और हमारी इच्छाएँ, हमारी शक्तियाँ, हमारी उमंगें और हमारी कल्पनाएँ व्यर्थ हैं? क्या हम दुर्भाग्य के हाथों की कठपुतली मात्र हैं? क्या हमारे आनन्दमय जीवन के स्वप्न, हमारी उन्नति की आकांक्षाएँ, हमारे मानवोचित गुण सब निरर्थक हैं?

इसका एक ही निश्चित उत्तर 'नहीं' है।

ईश्वर का अमृत पुत्र मनुष्य लाचारी का जीवन बिताने के लिए नहीं उत्पन्न हुआ। वह समृद्धि, शक्ति, और शान्ति का जीवन बिताने के लिए उत्पन्न हुआ है। जगत् का सर्वोत्तम, अक्षर, आनन्द उसका है; मृत्यु पर जीवन की प्रतिष्ठा की शक्ति उसमें है। तब शक्ति, ओज और आनन्द का पुतला मनुष्य अपने को भूल कर, अपना मार्ग भूल कर, स्वार्थान्ध हो, धूल में क्यों लोट रहा है?

वेद में ऋषि कहते हैं:—"जीवितां ज्योतिरभ्येह्यर्वाङ त्वा हरामि शत शारदाय। अवमुञ्चन्मृत्युपाशानशस्तिं द्राघीय आयुः प्रतरं ते दधामि।" अथर्व-८।२।२ "जीवितों की ज्योति के पास आ जाओ; आओ तुमको सौ वर्ष की

पूर्ण आयु तक पहुँचाता हूँ। मृत्यु के पाशों को तथा सब अप्रशस्त विघ्नों को दूर करके प्रशस्त दीर्घ आयु तुमको देता हूँ।" 'जीवितों की ज्योति के पास आओ' कैसे प्राणसंवाहक शब्द हैं ये! शिथिल, निरुपाय होकर जीना कोई जीना है? सम्पूर्ण जीवन के साथ जिओ।

हम बहुत से मनुष्यों को कहते सुनते हैं—अरे, अब हमारी क्या? चार दिन और जीना है, किसी तरह बीत ही जायँगे। कोई कहता है—भई, अब हम बेकाम हो गये। अब हम से कुछ नहीं हो सकता, अब परमात्मा बुला ले तो अच्छा। कोई कहता है—हमारे भाग्य में ही सुख नहीं है, हम जो करेंगे उसी का परिणाम उलटा होगा। शक्ति का अधिष्ठाता मनुष्य, अमरत्व का यात्री मनुष्य कैसी आत्म-विस्मृति की दीन वाणी में बोलता है। ये मानवता के वचन नहीं हैं; ये विकृत और शिथिल हृदय के उद्‌गार हैं। ऐसे ही मनुष्यों का उद्बोधन करते हुए वेद कहता है—

"दीर्घायु मनुष्यों के समान अधिक आयु प्राप्त करके जिओ। दीर्घायु धारण करके जिओ। मत मरो। प्राण शक्ति के साथ जिओ। मृत्यु के वश में मत जाओ।"[1] 'मा मृत्योः उद्‌गात् वशं' ('मृत्यु के अधीन मत हो) हिन्दू जाति के सब से मान्य और मानव जाति के सब से पुराने ग्रन्थ का यह उद्बोधन है। उठो, अमृत के सन्धान में लग जाओ। दुःख और कष्ट का जीवन तुम्हारे लिए नहीं है।

जो दुर्बल और अकर्मण्य हो रहे हैं, जो निराशा के गर्त में गिरे हुए हैं उनकी हीन अवस्था उन्हीं की बनाई हुई है। अपने कुविचार और असदाचरण से उन्होंने अपना शक्ति-भाण्डार खो दिया है। उन्होंने शक्ति-सागर

---

[1] आयुषायुष्कृतां जीवायुष्मान् जीव मा मृथाः।
प्राणेनात्मन्वतां जीव मा मृत्योरुदगाद्वशम्॥ अथर्व० १९।२७।८

प्रभु से अपना जीवन अलग कर लिया है और आत्मा की अलौकिक शक्तियों और संभावनाओं की ओर से स्वयं मुख मोड़ कर अन्धकार और दुःख, रोग और मृत्यु का वरण किया है। ऐसे मनुष्यों को आशा और आश्वासन प्रदान करते हुए ऋषि पुकार रहे हैं :—

"हे पुरुष, इस अवस्था से ऊपर उठो ; मत गिरो। मृत्यु के बन्धन से छूट जाओ।"[1]

पुनः कहते हैं :—

"जिस प्रकार अन्धकार छोड़कर ऊपर प्रकाश में आते हैं, उसी प्रकार मृत्यु से ऊपर उठो। अधिपति सूर्य अपनी किरणों से तुमको मृत्यु से बचावें।"[2]

हजारों वर्ष पूर्व सुनी हुई यह मृत्युंजय वाणी भूलकर हम शवतुल्य निस्पन्द हो रहे हैं ; प्राणशक्ति मूर्च्छित हो गई है ; मिथ्या विश्वासों के जादू से मोह-ग्रस्त होकर हमने सूर्य के समान प्रचण्ड आत्मशक्ति को घोर तिमिरावरण से ढक लिया है। हमारे पौरुष की उपासना का भूखा जीवन का देवता कपाटों के भीतर से पुकारते-पुकारते सो गया है पर हम हैं कि अपनी दुर्बल भावनाओं और जीवन्मृत कल्पनाओं के बन्दी बने शिथिल पड़े हैं। नैराश्य और पराजय की भावना हम में भर गई है।

इस पराजित जीवन के विरुद्ध विद्रोह करने, इससे ऊपर उठने के लिए ऋषि-वाणी बार-बार पुकार रही है। वह कहती है, जीवितों की तरह जिओ : समस्त प्राण-शक्ति के ओज के साथ जिओ, मृत्यु के बन्धनों को छिन्न-भिन्न करके जिओ। प्राणहीन कंकाल की तरह मत जिओ, पौरुष से दीप्त और ओज एवं वीर्य से मंडित होकर जिओ।

उपनिषद् में कहा गया है—"नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो"। बलहीन,

---

[1] उत्क्रामातः पुरुष माव पत्था मृत्योः पड्वीशमवमुंचमानः। अ० ८।१।४

[2] उदेहि मृत्योर्गमीरात् कृष्णाच्चित्तमसस्परि।
सूर्यस्त्वाधिपतिर्मृत्योरुदायच्छतु रश्मिभिः॥

निर्बल व्यक्ति आत्मा को नहीं प्राप्त कर सकते। फिर कहते हैं, "वह बहुत पढ़ने से भी प्राप्त नहीं हो सकती (नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो)।" ऋषि कहते हैं—"उठो, जागो और श्रेष्ठ पुरुषों से बोध प्राप्त करो।" आज हमें अपनी दुर्बलताओं से ऊपर उठना होगा। आज हमें उदात्त जीवन धारण करना होगा। "वह जीवन, जिसमें प्रतिक्षण हमें प्राणों का स्पन्दन अनुभूत होगा; वह जीवन जिसमें हमारी कर्मस्फूर्ति कभी क्षीण न होगी ; वह जीवन जिसमें पर्वत-समान बाधा-विघ्नों को पद-दलित करते हुए अविचलित पग से हम अपने लक्ष्य की ओर बढ़ते रहेंगे ; वह जीवन जिसमें हमारा व्यक्तित्व अपने देश के सम्पूर्ण समाज के व्यक्तित्व में प्रसारित होगा; वह जीवन जिसमें असीम को ससीम, अज्ञेय को ज्ञेय बनाने के लिए हमारी ज्ञान-पिपासा एवं कर्म-चेष्टा कभी शान्त न होगी ; वह जीवन जिसमें हमें निम्न से निम्न एवं अधम से अधम व्यक्ति के साथ निजत्व का सजीव स्पर्श अनुभव होता रहेगा ; वह जीवन जो सतत हमारे शरीर एवं मन-प्राण को सुन्दर, सबल और स्वस्थ बनाये रहेगा ; वह जीवन जो हमें उद्धत अन्याय एवं अत्याचार के विरुद्ध, प्रबलों द्वारा निर्बलों के उत्पीड़न एवं निष्ठुर शोषण के विरुद्ध संग्राम करने के लिए सदा अनुप्राणित करता रहेगा ; वह जीवन जिसमें हमें प्रत्येक क्षण मुक्ति एवं आनन्द का स्वर-संगीत झंकृत होता हुआ सुनाई पड़ेगा।"[1]

मा मृत्योः उद्गात् वशं।

मृत्यु के अधीन मत हो।

उत्क्रामातः पुरुष माव पत्था मृत्योः पड्वीशमव मुंचमानः।

हे पुरुष! इस अवस्था से ऊपर उठो ; गिरो मत और मृत्यु के बन्धन से मुक्त हो जाओ।

---

[1] श्री ज० प्र० मिश्र (विश्वमित्र १९५९-६० पृ० ४८९)

जीवन-कला

चित्रकार साधारण रंगों के समन्वय से जब चित्र बनाता है, जिसमें जीवन बोल रहा जान पड़ता है, तब हम आश्चर्यमुग्ध हो उठते हैं। एक सामान्य पत्थर से कुशल मूर्तिकार मानव की सृष्टि करता है। एक संगीतज्ञ शब्दों के भीतर छिपे अनन्त माधुर्य और सामञ्जस्य, आनन्द और रहस्य को विकीर्ण कर देता है। अव्यक्त सौन्दर्य को व्यक्त करना, अदृश्य शक्तियों से सम्बन्ध स्थापित करना और अमूर्त तत्वों को मूर्त करना ही कला का लक्ष्य है। जीवन भी एक कला है। महात्मा गांधी के शब्दों में तो "जीवन समस्त कलाओं से श्रेष्ठ है।...जो अच्छी तरह जीना जानता है वही सच्चा कलाकार है।"

जैसे समस्त कलाएँ अदृश्य सौन्दर्य की अभिव्यक्ति करती हैं वैसे ही जीवन भी सत्य, शिव और सुन्दर के प्रच्छन्न रहस्यों की अनुभूति और प्रकाशन करता है। जैसे चित्रकार को रंग और कूची, मूर्तिकार को पत्थर और छेनी, संगीतकार को शब्द, सुर, ताल और लय के साधन प्राप्त हैं वैसे ही मनुष्य को जीवन-कला के चित्रण और प्रकाशन के लिए शरीर, मन, बुद्धि की समृद्धियाँ प्राप्त हैं। जैसे रंगों के सामञ्जस्य से कला के रहस्य प्रकट होते हैं और उनके बिखर जाने पर सब कुछ बिखर जाता है वैसे ही जिस जीवन में शरीर, मन और बुद्धि का सम्यक् सामञ्जस्य है, और उस सामञ्जस्य द्वारा अदृश्य एवं मूर्च्छित सौन्दर्य का प्रत्यक्षीकरण है, वही जीवन जीवन है और उसी को कला के स्तर तक उठाया जा सकता है।

'जो अच्छी तरह जीना जानता है वही सच्चा कलाकार है।' हमारी सम्पूर्ण विद्या, हमारा ज्ञान, हमारा धन, हमारे अगणित दावे निरर्थक हैं यदि हमें जीना नहीं आया, यदि हमें जीवन की कला नहीं आई। क्या केवल पैदा होना,

पेट भरना, और एक दिन मर जाना ही जीवन है? क्या अपनी हजारों वर्ष की सभ्यता की यात्रा में मनुष्य ने इतना ही सीखा है? जिस जीवन में अच्छी तरह जीने की क्षमता नहीं, वह जीवन नहीं। 'अच्छी तरह जीना जानना', इसमें सम्पूर्ण रहस्य आ जाता है। अच्छी तरह जीना क्या है? शरीर को, मन की, बुद्धि की और इन सब के द्वारा आत्मा की शक्तियों का अनुभव और उनका अपने तथा जगत् के कल्याण के लिए विनियोग।

शरीर को लें तो जीवन के अन्तिम काल तक वह शक्तिमान और समर्थ रहे; श्रेष्ठ कार्यों में उसका उपयोग हो, थकावट और आलस्य पास न फटकें, नीरोग रहे, रोग से लड़ने और उसपर विजय पाने की शक्ति से भरा रहे। मस्तिष्क सक्षम, आँखें प्रकाश से भरीं, मुख तेजपूर्ण, दाँत दृढ़ और स्वच्छ, जिह्वा मौन रहना जानने वाली और मृदुमृदु बोलने वाली, उभरा हुआ सीना, विकसित पुट्ठेदार बांहें तथा सबल हाथ, शक्तिमान और सब कुछ हजम कर जाने वाला पेट तथा मजबूत पाँव जो जीवन की लम्बी यात्रा के बोझ से विचलित न हों। यह शरीर को अच्छा रखना है।

मन वह जिसमें अच्छे विचार आये, ऊँचे आदर्श की कल्पना हो, जो जीवन को, मार्ग में चलते हुए, दृढ़ता प्रदान करे, जिसमें स्वार्थ की भावना इतनी प्रबल न हो जाय कि दूसरों के हित और कल्याण का ध्यान न रहे, जो शरीर में उत्साह की तरंगें बहावे। जिसमें ईर्ष्या, द्वेष, लोभ, अन्याय पर अंकुश हो। ये हैं स्वस्थ मन के लक्षण।

बुद्धि वह जो विचारों को लक्ष्य की ओर संचालित करे, जो बुराई भलाई का विश्लेषण कर श्रेय की ओर प्रेरित करे, जिसमें समस्याओं के मूल में पैठने की शक्ति हो, जो प्रश्नों को समझे और हल करे, जो जीवन को अन्धकार से निकाल कर प्रकाश के मार्ग पर डाल दे। जो अपने और दूसरों के हितों में समन्वय साधे और व्यक्ति तथा समाज के पारस्परिक सम्बन्धों का

उचित दिशा में विकास करे।

स्वस्थ शरीर, स्वस्थ मन और स्वस्थ बुद्धि वा मस्तिष्क इन तीनों का सहयोग जब होता है तब जीवन-कला प्रकट होती है, तब आदमी अच्छी तरह जीना आरंभ करता है। जब जीवन-कला प्रकट होती है; तब कुत्सित और भद्दी वस्तुएँ सुन्दर हो जाती हैं; स्वार्थ का स्थान त्याग लेता है; अनुदार दृष्टि में उदारता का प्रकाश उत्पन्न होता है; दूसरों के प्रति हम अधिक सहिष्णु, अधिक उदार, अधिक सहानुभूतिपूर्ण होते हैं।

आज जब हम संसार की ओर दृष्टि डालते हैं तो हमें यह देखकर आश्चर्य और दुःख होता है कि असीम सुविधाओं और ज्ञान के अगणित नवीन साधनों के बाद भी मानव की जीवन-दृष्टि वही पुरानी है। जीवन बदल गया है, दुनिया बदल गई है पर जीवन पर, संसार की समस्याओं पर विचार करने की दृष्टि पुरानी ही बनी हुई है। वही शरीर-बल अब भी समस्याओं का उत्तरप्रदाता है। बलवान दुर्बल को, अमीर गरीब को, साधनसम्पन्न साधन हीन को, शक्तिमान राष्ट्र अपेक्षाकृत शक्तिहीन राष्ट्रों को, बड़े छोटों को निगल कर ही जीवित रह सकते हैं, जीव-जीव का भोजन है अथवा स्पष्ट शब्दों में 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' इस धारणा और जीवन-दृष्टि को लेकर ही आज भी मानव चल रहा है। हजारों वर्ष के इतिहास में मानव संस्कृति अपने प्रच्छन्न देवत्व को मूर्तिमान करने में प्रयत्नशील रही है। जिस परिमाण में पशुता दबती गई है उसी परिमाण में सभ्यता का विकास होता गया है। पर जब जब महान् अवसर आये हैं, सभ्यता कसौटी पर कसी गई है तब तब अन्दर की दबी पशुता ऊपर आ गई है; उसने मानवता के सम्पूर्ण प्रयत्नों को विफल कर दिया है।

इसका कारण क्या है?

इस असफलता का एक मात्र कारण यही है कि व्यक्ति की जीवनदृष्टि

अब भी पुरानी बनी हुई है। अब भी वह प्रेम की अपेक्षा जबर्दस्ती पर, हार्दिकता की अपेक्षा आतंक और प्रभुत्व पर अधिक आस्था रखता है। इसी-लिए देखने में सरल और निरीह मनुष्य संकटकाल में पागल हो जाते हैं; एक-दूसरे का गला काटने लगते हैं; मानव मानव के विरुद्ध खड़ा होता है; सामूहिक हत्याएँ युद्ध के नाम से पुकारी जाती हैं; विभिन्न देशों के बीच शत्रुता की भावना का प्रचार देशभक्ति समझा जाता है। जीवन में स्वार्थ, प्रतिद्वन्द्विता और जोर-जबर्दस्ती ने सदाचरण, प्रेम और उत्सर्ग का स्थान छीन लिया है।

हिन्दू धर्म कहता है—'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्'। जिसे तुम अपने लिए प्रतिकूल समझते हो, उसे दूसरों के साथ न करो। दूसरों के साथ वह व्यवहार न करो, जो दूसरा तुम्हारे साथ करे तो तुम दुखी हो।

इस्लाम कहता है—अपने पड़ोसी को प्यार कर और उसका साथ दे।

ईसाई धर्म कहता है—अपने शत्रुओं को प्रेम करो। जो तुम्हें शाप दें उनकी मंगलकामना करो। जो तुम्हारे प्रति द्वेषपूर्वक आचरण करें उनके लिए प्रार्थना करो। भलाई से बुराई को विजय करो।

मानव जीवन आज इन शिक्षाओं पर गठित नहीं हो रहा है। शक्तिशाली वर्गों ने जीवन-प्रवाह को बिल्कुल विरुद्ध दिशा में डाल दिया है। थोड़े से मनुष्यों ने सतह के नीचे देखने की चेष्टा की और उन्होंने वह नई जीवन-दृष्टि पाई जिसका प्रत्येक सन्तति, प्रत्येक पीढ़ी के लिए पुनः अन्वेषण करना अत्यन्त आवश्यक है—यह जीवनदृष्टि कि केवल सेवा में, किसी सत्कार्य में अपने को खो देने में, अपनी इच्छा के स्थान पर प्रभु की—ईश्वर की—इच्छा स्थापित करने में ही आनन्द है।

एक युवक, जिसे आधुनिक सभ्यता के यंत्रों ने बेकार कर दिया है, लिखता है—"यदि मुझे काम मिले तो मैं अवश्य करूँगा। बेकारी मेरी शर्म

नहीं, राज्य और उस सभ्यता-प्रणाली की शर्म है जो स्वास्थ्य और साहस से भरे इतने पौरुष को निरर्थक कर रही है। ये पुरुषार्थी युवक बेकारी और आलस्य के वातावरण में पल रहे हैं, आत्मसम्मान खोकर, अपने हृदय में खीझकर और राष्ट्र के हृदय के प्रति क्रोध से भरे हुए जी रहे हैं।.........
जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में मैं उन्हीं व्यर्थताओं, अन्यायों और विरुद्धताओं को देख रहा हूँ; अधिकार और धन के झूठे देवों के लिए उन्मत्त लिप्सा और दौड़; एक बीते युग के जीर्ण सिद्धान्तों में अन्धविश्वास,—वे सिद्धान्त जो नवीन जगत् की प्राणपूर्ण, सामर्थ्यपूर्ण, भयङ्कर शक्तियों को ग्रहण नहीं कर सकते, उन पर नियन्त्रण करना तो दूर की बात है। प्रत्येक मार्ग और प्रत्येक भवन से विज्ञान अनियंत्रित और अनाहूत होकर हमारी ओर दहाड़ता है; वह हमारे लिए ऐसी विलास-सामग्रियाँ बनाता जा रहा है जिन्हें क्रय करने में हम असमर्थ हैं और हमारे जैसे नवयुवकों को बेकार बनाकर उनकी शक्ति चूस रहा है; हमारे जीवन-मान को उठाता है पर हमारे जीवन के सार-तत्व को नष्ट करते हुए। क्या कई सहस्र वर्ष की हमारी सभ्यता हमारे लिए इससे अच्छी जीवन-विधि का निर्माण नहीं कर सकती? क्या वर्तमान पीढ़ी के हमारे-जैसे लोग इस स्थिति को जन्मजात अधिकार और परम्परा के रूप में ग्रहण करके उसी पुराने ढंग पर चलते रहें? उसी ढंग पर जिसमें शक्ति का क्षय, बेकारी, भय, शत्रुता, उन्मत्त विज्ञान के प्रति विस्मयविमुग्ध पर विचार-शिथिल लोकसमूह का आत्म-स्खलन है। अब तक हम लोभ, स्वार्थ और निष्ठुरता की दुनिया में रहते रहे हैं और आज भी रह रहे हैं; अब समय आ गया है कि हम अनुभव करें कि इनसे बड़ा एक ईश्वर है और जो लोग पृथ्वी पर पैदा हुए हैं उनमें से प्रत्येक के लिए शान्ति और आनन्द का एक आश्रय स्थान है। मेरा दृढ़ विश्वास है कि समय आरहा है जब यह परिवर्तन न केवल सम्भव होगा वरं अनिवार्य होगा। उस जीवन को हम एक आदर्श के रूप में

नहीं वरं एक बहु-ईप्सित तथ्य के रूप में ग्रहण करेंगे—एक जीवन जिसमें राष्ट्र राष्ट्र से प्रतिबन्धों की दीवारों के पीछे से नहीं वरं समान बन्धुत्व और हित की भावना से बोलेंगे और जहाँ मानव जाति भ्रातृत्व और शुभाकांक्षा की दृढ़ अनुभूतियों से प्राणान्वित होगी।"

यह एक बेकार युवक की हृदयवाणी है जिसके सामने, आत्मशोध और आत्मसंस्कार, प्रेम और सहानुभूतिपूर्ण व्यक्तियों द्वारा उत्पन्न एक नवीन संसार, एक नवीन जीवन-दृष्टि का स्वप्न है।

आधुनिक जीवन का सन्तुलन बिगड़ जाने का कारण यह है कि मानव प्रकृति का भौतिक पक्ष उसके नैतिक पक्ष से कहीं अधिक विकसित हो गया है। जीवन के भौतिक क्षेत्रों में जो आश्चर्यजनक प्रगति और क्रान्तिकारी परिवर्तन हो गये हैं,नैतिक क्षेत्र में उनके समानान्तर प्रगति और परिवर्तन नहीं हो पाये हैं। दोनों के बीच एक अन्तर, एक खाई आ गई है और पिछले सौ वर्षों में वह तेजी से बढ़ती गई है। एक क्षण के लिए सोचिए कि भौतिक क्षेत्र में कैसे सर्वग्राही, कैसे आश्चर्यजनक परिवर्तन हुए हैं और हो रहे हैं तथा उनकी गति कितनी तेज है। मानव जाति ने हजारों वर्ष से जिस दीपक का व्यवहार किया है, वह तेजी से बुझता जा रहा है और उसका स्थान धूम्रहीन विद्युत् ने छीन लिया है। मनुष्यता के आरम्भ से भूमि और जल को अति-क्रमण करने के लिए, यातायात के जो साधन काम में आते रहे, वे पेट्रोल, भाफ इत्यादि के उपयोग से बिल्कुल अस्पृश्य हो रहे हैं। टेलीग्राम, टेलीफोन, टेलिविजन, रेडियो, वायुयान इत्यादि के अगणित आविष्कारों ने भौतिक पक्ष को संघटित और दृढ़ कर दिया है। विलासिता के साधनों तथा अनेक सुवि-धाओं का बाहुल्य हो गया है। पुराकाल की बातें जाने दीजिए, अभी ५० साल पूर्व मनुष्य के हाथ में इतने घातक अस्त्र-शस्त्र न थे जितने आज हैं। आज के शस्त्रास्त्रों तथा सामरिक उपकरणों की मारक शक्ति ५० साल पूर्व के

शस्त्रास्त्रों से शतगुण अधिक हो गई है।

भौतिक जगत् की आश्चर्यजनक प्रगति को देखते हुए मानव समाज के नैतिक आध्यात्मिक जीवन में अथवा भाव-जगत् में बहुत ही कम प्रगति हुई है। पिछले सौ वर्षों में मनुष्य की बौद्धिक शक्तियाँ पर्वत-शृंगों से गिरने वाली तीव्र जलधारा के समान अप्रतिहत वेग से बढ़ी हैं परन्तु आध्यात्मिक विकास के क्षेत्र में मनुष्य बहुत पिछड़ गया है—इतना कि उसमें एक प्रबल निराशा और विवशता की भावना उत्पन्न हो गई है। प्रोफेसर मैकमरे नामक एक पाश्चात्य विचारक ने इस बात की समीक्षा करते हुए लिखा है—"आधुनिक युग में अर्थात् मध्ययुगीन विश्व के खंडित हो जाने के बाद से,मनुष्य के ज्ञान में अत्यधिक अभिवृद्धि हुई है। किन्तु उसके साथ तदनुकूल भावोत्कर्ष नहीं हुआ है। फलतः हम लोग बौद्धिकता की दृष्टि से सभ्य किन्तु भावनाओं में आदिमकालीन हैं, और हम लोग एक ऐसी सीमा पर पहुँच गये हैं जबकि ज्ञान की प्रगति हमें नष्ट कर देने की धमकी दे रही है। ज्ञान शक्ति है पर भावप्रवणता हमारे मूल्यों तथा उपयोगों की स्वामिनी है इसलिए हम अपनी शक्ति का प्रयोग उसी के अनुकूल करते हैं। भाव जगत् में हम जंगली,आदिम-कालिक व बच्चे तथा अविकसित हैं।......हमने बुद्धि को मुक्त कर दिया है किन्तु भावना (इमोशन) को शृंखलाओं में बाँध रखा है।"* मनुष्य का मन तो

* "......In the modern period, that is to say, since the break-up of the mediaeval world, there has been an immense development of knowledge. There has, however, been no corresponding emotional development. As a result we are intellectually civilised and emotionally primitive and we have reached the point at which the development of knowledge threatens to destroy us. Knowledge is power but emotion is the master of our Values and of the uses therefore, to which we put our power. Emotionally we are primitive, childish, undeveloped.........We have set the intellect free and kept emotion in chains."

ऊँची श्रेणी पर पहुँच गया है पर आत्मा प्रारंभिक अवस्था में ही है।*

इस विषम स्थिति के परिणाम की समीक्षा कीजिए। भौतिक क्षेत्र के क्रान्तिकारी परिवर्तनों के कारण आज मनुष्य के नैतिक पक्ष पर बोझ बहुत बढ़ गया है। हमारे नैतिक पक्ष से बदली हुई भौतिक दुनिया की माँग इतनी बढ़ गई है कि वह उसे पूरा करने में सर्वथा असमर्थ है। जीवन की भौतिक समृद्धि और सुविधाओं में असीम वृद्धि हो जाने के कारण वासना और विलास के प्रति प्रलोभन अधिक शक्तिमान हो गये हैं—उससे कहीं अधिक जितना प्राचीन काल में थे। इसीलिए आज मनुष्य को धनसंचय और परिग्रह वृत्ति पर कहीं अधिक नियंत्रण की आवश्यकता है। मनुष्य में इसी नियंत्रण शक्ति की कमी हो गई है। ज्यों-ज्यों भौतिक यंत्रों की गति तीव्र होती जाती है त्यों-त्यों उसके नियंत्रण और उसका सन्तुलन बनाये रखने के लिए हमें अपनी स्वार्थभावना पर अधिक अंकुश रखने की, आत्मनियंत्रण की आवश्यकता भी बढ़ती जाती है।

इसीलिए आज नई समाज-व्यवस्था की बातें प्रत्येक देश में कही जा रही हैं पर नई व्यवस्था केवल तर्क से, बौद्धिक अनुगमन से अथवा राजकीय शक्तियों के सहारे नहीं चलाई जा सकती। उसके लिए नूतन मनुष्यों की, नूतन जीवन-दृष्टि की आवश्यकता है। जब तक व्यक्तियों का जीवन शुद्ध न होगा और उनमें आत्मशोधन, आत्मपरिष्कार और आत्मोत्सर्ग का दृढ़ संकल्प एवं संस्कार उद्भूत और विकसित न होगा, तब तक कोई समाज-व्यवस्था काम न देगी।

हमें नूतन जगत् के लिए नूतन मनुष्य चाहिएँ,—वे जो जीवन की कला की चुनौती का उत्तर देने को सन्नद्ध हों, वे जो नूतन जगत् के निर्माण के लिए

---

* मूल शब्द, जिसका शाब्दिक अनुवाद कठिन है, ये हैं—"Man has a post-graduate mind and a kinder-garten soul."

नूतन जीवन-दृष्टि धारण करें और अभीतक चली आ रही जीवन की परम्परा का त्याग करें, जो आज ही नया जीवन—वास्तविक जीवन—बिताने का निश्चय करें।

पश्चिम के एक जाग्रत बन्धु ने, जो वर्षों तक एक उच्च शिक्षक रह चुके हैं, अपने जीवन की आलोचना करते हुए, इस समस्या पर प्रकाश डालते हुए, एक पुस्तक लिखी है। उसमें वह प्रश्न करते हैं, कितने ऐसे आदमी हैं जो छाती पर हाथ रखकर, श्रद्धापूर्वक, निश्चय के स्वर में, कह सकते हैं कि हमने कल से एक नवीन जीवन आरंभ किया है। क्या आप कह सकते हैं कि परसों या कल से आपने नया जीवन बिताना शुरू कर दिया है? उनके शब्दों में ("Can you look back on a certain day and say with confidence—"Yes, then I began to live, and now I know what life really is?") "क्या आप अपने एक बीते हुए दिन को देखकर विश्वास-पूर्वक कह सकते हैं कि 'हाँ, तब से मैंने जीना आरंभ किया और अब मैं जानता हूँ कि सचमुच जीवन क्या है?"

सच्ची बात तो यह है कि अधिकांश मनुष्य कभी जीवन—सच्चा जीवन—आरंभ ही नहीं करते। वे अनिश्चय और अस्पष्ट एवं भ्रमात्मक विचारों की शृंखला में पड़े एक शिथिल और प्राणहीन जीवन बिताते हैं। कभी-कभी क्षणिक उत्साह से भरकर सोचते हैं—अच्छा जो हुआ सो हुआ, आगे हम ऐसे न रहेंगे। अमेरिका से एक पुस्तक प्रकाशित हुई है—'लाइफ़ बिगिन्स टुमारो' अर्थात् 'कल से जीवन आरंभ होगा।' इस पुस्तक का नाम न केवल उसके लेखक की मनोवृत्ति व्यक्त करता है बल्कि लाखों आदमियों की मनःस्थिति प्रकट करता है। जीवन बस प्रारंभ होने जा रहा है पर प्रारंभ कभी न होगा। कल कभी नहीं आता। जो यह कह सकता है कि मैंने कल से या आज से नवीन जीवन बिताना आरंभ कर दिया है, वही जीवन की वास्तविक शक्ति

और शान्ति का अनुभव कर सकता है।

इस नवीन जीवन या नूतन जीवन-दृष्टि की चार आवश्यक शर्तें हैं—१. पूर्ण सचाई या ईमानदारी, २. पूर्ण पवित्रता, ३. पूर्ण स्वार्थहीनता, और ४. पूर्ण प्रेम। वैसे देखने में ये बातें कठिन जान पड़ती हैं पर एक बार दृढ़ निश्चय कर लेने पर, आत्मा पर पड़े हुए मोह के परदे को हटा देने पर सरल हो जाती हैं क्योंकि ये सब गुण, तत्वतः, हमारी मूल प्रकृति में उपस्थित हैं। ईश्वर में दृढ़ आस्था रखने और उससे सम्पर्क स्थापित करने, उसके प्रति आत्मसमर्पण करने से ये बातें सहज हो जाती हैं। ईश्वर समस्त शक्ति और प्रकाश का स्रोत है; उसके प्रति ईमानदार होने से ही आप अपने प्रति ईमानदार हो सकते हैं और जो अपने प्रति ईमानदार है वही जगत् के प्रति भी ईमानदार हो सकता है। इसमें आत्म-वंचना संभव नहीं है। पवित्रता भी इसी प्रकार साध्य है—यदि हम विचारों को उच्च तल पर रखें, उच्च आदर्शों की ओर सचेष्ट हों और अहकार को जाग्रत न होने दें। स्वार्थहीनता प्राप्त करना सरल हो यदि हम अनुभव करें कि मानवसमाज के हित और कल्याण से अपने हित और कल्याण का घनिष्ट सम्बन्ध है। दूसरों के हित में ही अपना हित है। अपने और पराये के बीच की दीवार को धीरे-धीरे तोड़ डालने पर सब सरल हो जायगा। प्रेम तो मानव जीवन का आधार ही है। उसके बिना हमारा जीवन संभव ही नहीं है। आवश्यकता इतनी ही है कि हमारा अपने बच्चों, आत्मीय जनों से जो प्रेम है उसे हम विकसित करके मानवमात्र में फैला दें। उसे जीवन की प्रत्येक दिशा में सच्ची शक्ति के रूप में विकसित होने दें; वह हमें दुर्बल नहीं, शक्तिमान बनावे और दैवी संभावनाएँ जाग्रत करे।

प्रार्थना हृदय की भूख है; आत्मा की पुकार है। वह हमारे अधिक अच्छे, अधिक शुद्ध होने की आतुरता को सूचित करती है। इसका मूल कण्ठ

नहीं, हृदय है। प्रार्थना वह कड़ी है जो ईश्वर से हमें मिलाती है; जो अन्धकार के बीच हमें प्रकाश देती है। इस प्रार्थना से ऊपर बताये हुए नवीन जीवन के चारों आवश्यक गुण सरल-साध्य हो जाते हैं।

मनुष्य ईश्वर का एक सन्देश है। जबतक मनुष्य इसे याद न रखेगा उसमें उच्च जीवन-भूमिका आ ही नहीं सकती। आवश्यकता यह है कि हम मनुष्य जीवन की महत्ता का अनुभव करें, उसके असीम उत्तरदायित्व को समझें और अश्रेयस्कर प्रवृत्तियों की चुनौती का पौरुष की भाषा में उत्तर दें। आवश्यकता इस बात की है कि भौतिक प्रगति पर आध्यात्मिक चेतना और शक्ति का नियंत्रण हो। आवश्यकता इस बात की है कि परम्पराओं, जीर्ण विचारों और प्रणालियों की दासता से अपने को मुक्त कर लें और ह्निटमैन के शब्दों में कह सकें—

I am for those that have never been master'd

For men and women whose tempers have never been master'd,

For those whom laws, theories, conventions can never master.

"मैं उन्हीं के लिए हूं जो कभी पराजित नहीं हुए; मैं उन नर-नारियों के लिए हूँ जिनकी प्रकृति सदा अपराजित रही है। मैं उन लोगों के लिए हूँ जिन्हें कभी कानून, रूढ़ियाँ, मतवाद और परम्पराएँ पराजित नहीं कर सकतीं।" नियाग्रा प्रपात की असीम शक्तियाँ जैसे कुछ ही समय पूर्व तक उनके उपयोग की विधि ज्ञात न होने से निरर्थक पड़ी थीं वैसे ही जीवन के गहरे तल में असीम शक्तियाँ पड़ी हुई हैं। हम उन्हें भूले हुए हैं। हमारा शरीर, हमारा मन, हमारी बुद्धि अस्वस्थ है; गलत विचारों, धारणाओं की गुलामी में पड़ी हुई है। इसीलिए जीवन की सच्ची कला का उदय नहीं हो पाता

है। जिस दिन हम जीर्ण जीवन तथा विचार-प्रणाली के बन्धनों से अपने मानस को मुक्त करके एक सर्वथा नवीन जगत् के निर्माण के लिए, नींव देने के रूप में, नवीन जीवन-दृष्टि ग्रहण करेंगे और एक नवीन जीवन के बिताने का निश्चय ही नहीं करेंगे वरं उसे आरंभ कर देंगे उस दिन हमें एक नूतन मुक्ति, एक नूतन विजय, एक नवीन साहस, एक नवीन आनन्द, एक नई शक्ति और एक नवीन शान्ति का अनुभव होगा।

———

सद्विद्या

विद्या शब्द का अर्थ है—जानना। इसलिए इसे ज्ञान भी कह सकते हैं। जिससे मनुष्य को वस्तुओं के मूल रूप का दर्शन होता है वह विद्या है। मनुष्य के जीवन का मूल है आत्मा। उसकी समस्त प्रवृत्तियों और प्रेरणाओं के मूल में आत्मा की ही शक्ति है। इस शक्ति का जब देह से सम्पर्क होता है तब प्राणप्रतिष्ठा होती है किन्तु देह के बिखर जाने के पश्चात् भी वह रहती है। वह अव्यय है, वह व्यापक है।

जिस साधन-द्वारा शरीर, मन और आत्मा अथवा जड़ एवं चेतन का ज्ञान होता है वह विद्या है। विद्या के दो भाग हैं:—१. जिससे आत्मज्ञान होता है; आत्मा के स्वरूप, शक्ति और रहस्य का अनुभव होता है वह विद्या है। इसे सद्विद्या भी कहते हैं। क्योंकि यह सत्—जो है और सदा रहने वाला है—का अनुभव कराती है। इससे मनुष्य को आध्यात्मिक स्वरूप का ज्ञान होता है तथा वह सब प्रकार के मोह, अज्ञान और बन्धनों से मुक्त हो जाता है। मनुष्य, मूल में, आत्मस्वरूप है इसलिए उसमें पूर्ण स्वतंत्रता, सर्व बन्धनों से मुक्ति की स्वाभाविक प्रेरणा है। सच्ची विद्या मनुष्य को उसके इसी दिव्य रूप की झाँकी कराती है। २. वह जिससे भौतिक जगत् तथा मन के रहस्यों का ज्ञान होता है। एक से जगन्नियन्ता का, द्रष्टा का, आत्मा का ज्ञान होता है, दूसरे से जगत् का, दृश्य का, देह का ज्ञान होता है। एक के लिए दूसरे का ज्ञान अपेक्षित है और दोनों की जानकारी से ही मनुष्य का ज्ञान पूर्ण होता है पर स्वभावतः पहला भाग मानव जीवन के लिए अनिवार्य है, जब दूसरे के बिना भी काम चल सकता है। शास्त्र के शब्दों में इसे ही परा और अपरा विद्या भी कहते हैं।

उपनिषद् हमारे वे ग्रंथ हैं जिनमें काव्यमयी भाषा में आत्मज्ञान का रहस्य भरा पड़ा है। जगत् के बड़े-बड़े तत्वचिन्तकों ने कहा है कि जगत् में जो कुछ जानने योग्य है वह उपनिषद् में है। उपनिषद् में इन विद्याओं के रूप और प्रकृति का भी विवेचन है। शौनक नाम के एक जिज्ञासु प्रसिद्ध गृहस्थ परम ज्ञानी अङ्गिरस के पास, विधिपूर्वक, जाकर पूछते हैं—

"भगवन्! किसके जान लिये जाने पर यह सब कुछ जान लिया जाता है?"[1]

ऋषि उत्तर देते हैं:—

"ब्रह्मवेत्ताओं ने कहा है कि दो विद्याएँ जानने योग्य हैं—एक परा, दूसरी अपरा।'

"उनमें ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष अपरा हैं। तथा जिससे उस अक्षर परमात्मा का ज्ञान होता है वह परा है।"[2]

प्रकृति के रहस्यों को बताने वाले आज के जो जो विविध विज्ञान हैं उनको भी अपरा विद्या में गिनना चाहिए।

जो विद्या मनुष्य को मोह और शोक से मुक्त करती है, जो उसे निर्बन्ध और स्वतन्त्र कर देती है वह सद्विद्या है या वास्तविक विद्या है; जो मनुष्य को बन्धनों में बाँधती है, जिससे मोह (अज्ञान), शोक और आसक्ति उत्पन्न होती है वह वस्तुतः अविद्या है।

---

[1] कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति।

[2] द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद्ब्रह्मविदो वदंति परा चैवापरा च।
तत्रापरा, ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं। निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। परा यया तदक्षर मधिगम्यते।

आज हम देखते हैं कि बड़े-बड़े विद्वान् जीवन के निम्न तल पर जीवन व्यतीत कर रहे हैं। वे जीविका के लिए अपने को बेच देते हैं। धन की वितृष्णा ने उनकी आत्मा को दुर्बल बना दिया है। वे अपने महान् पद से स्खलित होकर पेशेवर बन गये हैं। जैसे दुकानों में वस्तुओं की बिक्री होती है वैसे ही उनके यहाँ विद्या बिकती है। वे स्वयं बन्धन में हैं और दूसरों को भी बन्धन में डालते हैं। ज्ञान की असीम गरिमा का उनमें समावेश नहीं और प्रकाश उनके अन्तर में बुझ गया है। किसी विद्वान् ने कभी कहा था—'नालेज इज पावर।' अर्थात् ज्ञान ही शक्ति है पर आज वे शक्तिहीन, जीवनहीन, प्राणहीन, श्रीहीन हो गये हैं। विद्या के नाम से अविद्या बेच रहे हैं। अहंकार के कारण वे अपने को बुद्धिमान समझते हैं पर वस्तुतः उनका ज्ञान-दीप बुझ चुका है और वे अन्धे की भाँति अँधेरे में भटक रहे हैं। कर्म और गति उनमें है पर ज्ञान नहीं। ऋषि इन का विवेचन करते हुए कहते हैं—

"अविद्या के मध्य में रहने वाले और अपने को धीर—बुद्धिमान—और पण्डित मानने वाले वे मूढ़ पुरुष अन्धे द्वारा ले जाये जाते हुए अन्धे के समान पीड़ित होते सब ओर भटकते रहते हैं।"[1]

आत्मवञ्चना विकृत ज्ञान का मुख्य लक्षण है। इसलिए ऐसे व्यक्ति जिन्हें वास्तविक विद्या के रहस्यों का परिचय नहीं, प्रायः मन में धारणा कर लेते हैं कि जो मैं जानता हूँ वही सत्य है, हम सब जानते हैं, हम कृतार्थ हैं। ऋषि कहते हैं—

"बहुधा अविद्या में ही रहने वाले वे मूर्ख लोग 'हम कृतार्थ हो गये हैं' इस प्रकार अभिमान किया करते हैं क्योंकि (केवल) कर्मों को (कर्मफल विषयक) राग के कारण तत्व का ज्ञान नहीं होता। इसलिए वे दुःखार्त्त होकर स्वर्ग से

---

1 अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः, स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः ।
जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढा, अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥

च्युत हो जाते हैं।"[१]

जो विद्या मानव में विवेक नहीं उत्पन्न करती वह वस्तुतः अविद्या है। ज्ञान सदैव चित्त को शुद्ध और निर्मल करता है और श्रेय और प्रेय, भले-बुरे को समझकर भले को ग्रहण करने की प्रेरणा प्रदान करता है।

"श्रेय और है तथा प्रेय और ही है। वे दोनों विभिन्न अर्थ वाले होते हुए पुरुष को बाँधते हैं। उन दोनों में से श्रेय को ग्रहण करने वाला शुभ होता है और जो प्रेय को वरण करता है वह पुरुषार्थ से पतित हो जाता है।"[२]

विद्या इसी प्रेय और श्रेय का भेद बताती है। वही विद्वान् है, वही बुद्धिमान है जो इन दोनों का भेद समझकर श्रेय को अंगीकार करता है।

"श्रेय और प्रेय (परस्पर मिले हुए, मिश्रित रूप में) मनुष्य के पास आते हैं। बुद्धिमान—धीर—पुरुष भलीभाँति विचार कर उन दोनों को अलग-अलग करता है। विवेकी पुरुष प्रेय के सामने श्रेय को ही वरण करता है, किन्तु मूढ़—मन्द—योगक्षेम के निमित्त प्रेय को वरण करता है।"[३]

अल्पज्ञ पुरुष बाह्य भोगों के पीछे लगे रहते हैं। वे मृत्यु के सर्वत्र फैले हुए पाश में पड़ते हैं किन्तु विवेकज्ञान की विद्या उस मृत्यु तथा अन्धकार के बन्धनों से ऊपर उठाती है। कर्म जड़ है और ज्ञान चैतन्य शक्तिरूप है। ज्ञानहीन कर्म केवल गति प्रदान करता है पर उसमें श्रेयस्कर शक्तियों का अभाव होता है; वह अनियन्त्रित तथा दिशाभ्रष्ट शक्ति की भाँति हानिकर होता है।

---

१ अविद्यायां बहुधा वर्तमाना, वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः।
यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात्, तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते॥

२ अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः।
तयोः श्रेय आददानस्य साधुर्भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते।

३ श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते, प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद्वृणीते॥

जहाँ कर्म शुद्ध ज्ञान से शासित है तहाँ ही पूर्ण जीवन का प्रकाश है।

ऋषि की वाणी है—'सा विद्या या विमुक्तये।' विद्या वही है जो हमें मुक्त करती है ; स्वतंत्रता देती है। स्वतंत्रता का अर्थ यह है कि हमारे मन को और बुद्धि को, जो स्थिति, परम्परा, मूढ़ विश्वास, अज्ञान, भय और भ्रम के बन्धनों में बँधी हुई है, वह निर्लिप्त कर देती है। उसके पंख खोल देती है जिससे उनमें प्रकाश की यात्रा का संकल्प और बल उत्पन्न होता है। जो विद्या मानव को आत्मस्थ करती है, श्रेयस्कर मार्ग पर डालती है, उच्च आदर्शों और कर्तव्यों के लिए प्रेरित करती है, हमें स्वार्थ से ऊपर उठाकर दूसरों के साथ आत्मैक्य की स्थापना करती है तथा हमें महान् उत्तरदायित्वों को वहन करने की शक्ति प्रदान करती है वही सद्विद्या है।

शिक्षण और उसका मर्म

मनुष्य में जिज्ञासा की वृत्ति स्वाभाविक है। शिशु में जिज्ञासा पहले होती है, वाणी का विकास बाद में होता है। वह जो कुछ देखता है उसे समझना चाहता है। जब वह बोल नहीं सकता, तब भी उसकी आँखों में, उसके मुख पर, उसकी भावभङ्गी में जिज्ञासा देखी जा सकती है। इसी जिज्ञासा के कारण उसका मानसिक विकास होता है। जिज्ञासा वृत्ति को सन्तुष्ट करने की क्रिया के साथ ही ज्ञानप्राप्ति की क्रिया होती रहती है। यह जिज्ञासा परिस्थिति और संस्कार के अनुरूप होती है। ज्यों-ज्यों बच्चे की दुनिया बढ़ती जाती है और उसके संस्कार बनते हैं त्यों-त्यों जिज्ञासा का क्षेत्र भी फैलता जाता है।

जिज्ञासा के अन्तर्गत तीन तत्त्व मुख्य होते हैं—१. यह क्या है ?, २. क्यों है ? ३. कैसे है ? क्या, क्यों और कैसे के उत्तर में ही ज्ञान का महत्त्व है। जिज्ञासा ज्ञान का बीज है, अथवा ज्ञान जिज्ञासा का फल है। इस जिज्ञासा वृत्ति को विकसित करने और उसमें अच्छे संस्कार डालने में ही शिक्षा का उपयोग है।

जीवमात्र में दो प्रवृत्तियाँ मिलती हैं—१. प्रेरणा (इंसटिंक्ट Instinct) २. सामाजिकता। किन्तु मनुष्य में एक और प्रवृत्ति है, जिज्ञासा या विचार-शक्ति। पशु-जीवन केवल प्रेरणा का जीवन है। मनुष्य इसीलिए मनुष्य है कि उसमें आरंभ से न केवल प्रेरणात्मक शक्ति होती है बल्कि विचार, बुद्धि या जिज्ञासा की शक्ति भी होती है। उचित उपयोग से इसका विकास होता है। बुद्धि के विकास से ही ज्ञान की वृद्धि और सिद्धि होती है।

ज्ञान का अर्थ है किसी वस्तु के अन्तरबाह्य को जान लेना और जानकर उसका यथोचित उपयोग करना। जैसे साहस को लीजिए। साहस किसे कहते

हैं, किन-किन स्थितियों में किया कार्य साहस है, साहस के पीछे भावना और प्रवृत्ति क्या है इत्यादि बातों की जानकारी रखकर भी यदि वह व्यक्ति जीवन में उसका उपयोग नहीं कर सकता अथवा तदनुकूल आचरण नहीं कर सकता तो उसका ज्ञान अधूरा अथवा विकृत समझना चाहिए। साहस की परिभाषा बताने और उसकी मनोवैज्ञानिक व्याख्या करनेवाले व्यक्ति भी डरपोक पाये जाते हैं। दर्शनशास्त्र और अध्यात्मविद्या के अध्यापकों में चरित्रबल का अभाव देखा जाता है; इतिहास के अध्यापक सामाजिक प्रश्नों पर तथा अपने जीवन के क्षेत्र में समस्त ऐतिहासिक ज्ञान वा अनुभव के विपरीत आचरण करते हैं; अनेक शिक्षणशास्त्रियों को बच्चों के साथ डंडे या बेंत का व्यवहार करते देखा गया है। इसका कारण यही है कि इनमें उस विषय का ज्ञान केवल पुस्तकीय है, वह वस्तुतः ज्ञान भी नहीं है क्योंकि वह उनके हृदय में नहीं घुस पाया, उनके जीवन में नहीं प्रविष्ट हुआ, आत्मा में नहीं भिदा। ऐसा ज्ञान ज्ञान नहीं,पेशा है,जीविकोपार्जन का साधन। जहाँ ज्ञान में चित्त समाविष्ट नहीं और ज्ञानेन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रियाँ उस ज्ञान के विरुद्ध व्यवहार करती हैं तहाँ ज्ञान वस्तुतः अज्ञान या अविद्या है। शिक्षा का तात्पर्य यह है कि जो अध्यात्मविद्या पढ़ता है या पढ़ाता है उसने आत्मनिष्ठ होने का निश्चय कर लिया है और आत्मज्ञान तथा जगत् के रहस्यों के ज्ञानार्जन में दत्तचित्त है। उसके जीवन में विशुद्ध ज्ञान का आलोक होगा तथा आचरण में जीवमात्र के प्रति निजत्व और आत्मैक्य की भावना होगी।

आज के 'शिक्षित' कहे जाने वाले समाज में एक बहुत बड़ा भ्रम दिखाई पड़ता है। वह समझता है कि शिक्षा और साक्षरता एक ही बात है। वस्तुतः बात ऐसी नहीं है। शिक्षा का अर्थ अक्षरज्ञान या साक्षरता नहीं है। साक्षर आदमी भूल से शिक्षित समझे जाते हैं। मनुष्य साक्षर होकर भी अशिक्षित

हो सकता है: आज कल अनेक साक्षर व्यक्ति ऐसे मिलेंगे जिन्हें हम शिक्षित नहीं कह सकते, बल्कि मूढ़ कह सकते हैं। इसी प्रकार निरक्षर व्यक्ति ज्ञानी वा शिक्षित हो सकता है। हमारे जीवन से जिन लोगों का परिचय है, उनमें भी ऐसे लोग मिल जायंगे। कबीर और रामकृष्ण परमहंस जैसे संत और ज्ञानी ऐसे ही थे। वैसे भी हमारे इर्द-गिर्द ऐसे लक्ष-लक्ष मनुष्य हैं जिन्होंने पाठशाला की सीढ़ी पर कभी पैर नहीं रखा पर उनको मूर्ख या अशिक्षित नहीं कहा जा सकता। उनके साथ व्यवहार करके आप पता लगा सकते हैं कि उनकी बुद्धि पैनी है, वे अनेक बातों और समस्याओं की तह तक पहुँचने की क्षमता रखते हैं। वे काफी व्यवहार-कुशल होते हैं और जहाँ तक हृदय के संस्कारों का सवाल है वे सैकड़ों शिक्षितों से अच्छे हैं; उनमें दया, सहानुभूति, क्षमा, सहनशीलता, प्रेम इत्यादि मानवोचित गुण भी पर्याप्त परिमाण में पाये जाते हैं।

यह मान लेना कि शिक्षार्थी पाठशाला में ही ज्ञानार्जन करता है; एक बड़ी भूल है। वह कुटुम्ब में, मार्ग चलते हुए, अपने साथियों के सम्पर्क में, सर्वत्र कुछ न कुछ सीखता रहता है। वह अपने प्रति माता-पिता, कुटुम्बियों, मित्रों, साथियों और शिक्षकों के व्यवहार से सीखता है; समाज में व्यक्ति अथवा वर्ग जिस प्रकार परस्पर व्यवहार करते हैं, उनसे सीखता है।

तब क्या जिसे सामान्य अर्थ में आज कल शिक्षा कहा जाता है अर्थात् साक्षरता से सम्बन्ध रखने वाली, पुस्तकों और पाठ्यक्रमों से सिखाने वाली शिक्षा निरुपयोगी है, क्या उसका जीवन में कोई स्थान अथवा महत्व नहीं है?

साक्षरता का भी महत्व है। वह शिक्षा का एक सुलभ साधन है। यदि ठीक तरह से साक्षरता की शिक्षा दी जाय तो वह जिज्ञासा को संघटित कर देती है। वह जिज्ञासा फलतः ज्ञान की प्रवृत्ति को अनुशासन में लाकर, एकाग्र करके उसे अधिक सजग कर देती है। चाकू पर शान धरने का जो परिणाम

होता है वही साक्षर होने का होता है। भाषा के पीछे जैसे अक्षरों और शब्दों का संघटन है और उन सब के संघटन के कारण ही भाषा भाषा है, उसमें अर्थ का प्रवाह है, उसकी सार्थकता है, उनके बिखर जाने से, क्रमहीन हो जाने से सब कुछ निरर्थक हो जाता है, उसी प्रकार साक्षरता से बुद्धि और मानसिक शक्तियों को विषय-विशेष अथवा उद्देश्य-विशेष में केन्द्रित करने में सहायता मिलती है।

साक्षरतावाली प्रणाली का एक और भी महत्व है। संसार के भिन्न भिन्न देशों में जो महापुरुष हुए हैं उनका ज्ञान पुस्तकों के रूप में संग्रहीत है; संसार की युग-युग से संचित विचारशक्ति, कल्पना, भावना, अनुभव साहित्य में संचित हैं; संसार में विचारधाराओं के जो संघर्ष हुए हैं अथवा हो रहे हैं उनकी झाँकी हमें यहाँ मिलती है। संसार में जो हो चुका है या जो हो रहा है, वह सब हम इसके द्वारा जान सकते हैं। विश्व की साहसिकता के दर्शन हमें होते हैं। मानव ने अपनी जीवन-यात्रा में ज्ञान के कितने पग रखे हैं और मानव जाति को आज की स्थिति तक पहुँचने में किन दर्जों को पार करना पड़ा है, मानवता और पशुता के निरन्तर संघर्षों के बीच भी मानवता जी सकी है इत्यादि का ज्ञान हमें साक्षर होने के कारण हो सकता है। इसी के कारण जीवन की धारा की निरन्तरता का ज्ञान होता है। इसके कारण भूत-काल और हमारे बीच जो अन्तर है वह नष्ट हो जाता है, और हम एक स्थान पर बैठे हुए अनेक स्थानों में और जो समय बीत गया है और फिर कभी न आयेगा, उसमें पहुँच जाते हैं।

परन्तु जैसा कि मैं ऊपर कह चुका हूँ, साक्षरता शिक्षा का साधन मात्र है; वह हमें शिक्षित करने में, हमारी ज्ञानसाधना में सहायक हो सकती है। शिक्षा का मोटा अभिप्राय तो यह है कि हम अपने शरीर, मन, मस्तिष्क और विभिन्न इन्द्रियों का सदुपयोग करना जान जायँ। इसका उद्देश्य केवल ज्ञानार्जन ही

नहीं है बल्कि ज्ञान की वृत्ति को सदैव जाग्रत रखना भी है। विचारक लेसिंग का एक प्रसिद्ध वचन है कि यदि ईश्वर मुझे सर्वसत्यों के ज्ञान और सत्यान्वेषण की वृत्ति—इन दो बातों में से एक को ही चुनने की स्वतंत्रता दे तो मैं दूसरे (सत्यान्वेषण की वृत्ति) को ही पहले से कहीं अधिक मूल्यवान देन समझकर चुनूँगा। शिक्षा का उद्देश्य यही है—ज्ञान की अनवरत साधना; ज्ञान के अन्वेषण में मानव की प्राकृतिक जिज्ञासा का समुचित विनियोग। मस्तिष्क को बन्धनों से मुक्त रखना, पूर्वकल्पित भ्रमों और धारणाओं के विरुद्ध खड़ा होना, बुद्धि को पवित्र और अनावृत रखना, उचित और न्यायपूर्ण निर्णय तक पहुँचने में गंभीर मनन के साथ ही कष्ट उठाने को तैयार रहना, नवीन सत्यों—यदि वे सत्य सिद्ध हों—के स्वागत की सतत तैयारी, फिर चाहे इसमें आत्मत्याग करना पड़े, शिक्षा के ये उद्देश्य हैं और इन्हीं लक्षणों से वह परखी जाती है। मुझे स्वर्गीय लार्ड एसक्विथ के शब्द याद आते हैं जो उन्होंने एबरडीन विश्वविद्यालय के सामने कहे थे—"Keep always with you, wherever, your course may lie, the best and most enduring gift that a University can bestow—the Company of great thoughts, the inspiration of great ideals, the example of great achievements, the consolation of great failures.' अर्थात् "चाहे तुम जिस स्थिति में भी हो, एक यूनिवर्सिटी की इस महती और चिरन्तन देन को सदैव अपने साथ रखो—महान् विचारों का सत्संग, महान् आदर्शों की स्फूर्ति, महान् सिद्धियों का उदाहरण तथा महती असफलताओं का आश्वासन।" मानव की प्राकृतिक जिज्ञासा को ज्ञान की साधना तथा उस साधना का जीवन में सदुपयोग, शिक्षा का यही मर्म है।

———

जीवन और शिक्षण

साधारणतः आजकल शिक्षण का अर्थ साहित्यिक ज्ञान समझा जाता है। लोगों का यह भी मत है कि शिक्षणकाल में शिक्षार्थी को जीवन और संसार के व्यावहारिक प्रश्नों एवं गुत्थियों में न पड़ना चाहिए। इन दोनों बातों का परिणाम यह हुआ है कि शिक्षा कोरमकोर शिक्षा ही रह गई है और उसका जीवन से सम्पर्क छूट गया है। इससे शिक्षा का जो लाभ व्यक्ति और समाज को मिलना चाहिए, नहीं मिल रहा है। आधा जीवन पढ़ने में बीत जाता है, और पढ़ना समाप्त होते ही जीविका की समस्या सामने आ जाती है। जो कुछ शिक्षा मिली उसका जीवन में विनियोग नहीं हो पाता। न उसके लिए अवसर ही मिलता है और अवसर भी मिला तो इतने दिनों से समाज के जीवन से क्रियात्मक सम्बन्ध न रहने के कारण युवक किंकर्त्तव्य-विमूढ़-सा हो जाता है और अपने को परिस्थितियों के अनुकूल बनाने में असमर्थ होता है।

शिक्षा स्वयं कोई ध्येय नहीं है। वह जीवन के ध्येय की पूर्ति का साधन मात्र है, इसलिए जीवन और जीवन की समस्याओं से उसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। जो जीवन हम बिता रहे! उसकी भूमिका पर जो जीवन हमें बिताना है अथवा बिताना चाहिए उसकी ओर अग्रसर करने की साधना ही शिक्षा है। पुस्तक में केवल अक्षर और भाषा मिलती है, विचार मिलते हैं किन्तु उनका अर्थ जीवन में खोजना चाहिए। आचार्य विनोबा अपनी अपूर्व व्यंग-शैली में लिखते हैं:—" 'अश्व' मानी 'घोड़ा' यह कोश में लिखा है। बच्चों को लगता है 'अश्व' शब्द का अर्थ कोश में लिखा है। पर यह सच नहीं है। अश्व शब्द का अर्थकोश के बाहर तबेले में बँधा खड़ा है। उसका कोश में समाना

संभव नहीं। 'अश्व' मानी 'घोड़ा' यह कोश का वाक्य इतना ही बतलाता है कि, 'अश्व शब्द का वही अर्थ है जो घोड़ा शब्द का अर्थ है।' वह क्या है, सो तबेले में जाकर देखो। कोश में केवल पर्याय शब्द दिया रहता है। पुस्तक में अर्थ नहीं रहता। अर्थ सृष्टि में रहता है। जब यह बात बुद्धि में आयेगी तभी सच्चे ज्ञान की चाट लगेगी।"

प्रयोगशाला के बिना विज्ञान की प्रारंभिक शिक्षा देना भी संभव नहीं है। विज्ञान की पाठ्यपुस्तक में विद्यार्थी जो कुछ पढ़ता है उसे वह प्रयोगशाला में प्रत्यक्ष देखता है, तभी उसे सिद्धान्तों के पीछे जो रहस्य होते हैं उनका ज्ञान होता है। यही बात शिक्षा-सम्बन्धी प्रत्येक विषय के साथ है। पुस्तकों से कल्पनाएँ तीव्र होती हैं और विचार मिलते हैं किन्तु विचार का महत्व उनके प्रयोग अर्थात् क्रिया वा आचरण में है। प्रत्येक विद्यार्थी जानता है कि कर्ता होकर भी जबतक क्रिया न हो वाक्य नहीं बनता। इसी प्रकार शिक्षा के साथ यदि तदनुकूल क्रियात्मक प्रयोग न हो तो उसका सम्पूर्ण तात्पर्य ही नष्ट हो जाता है।

शिक्षा, विशेषतः बाल-शिक्षा, की विश्वविख्यात विशेषज्ञा डा० मोंटीसरी ने लिखा है—"स्वाधीनता के मार्ग पर आगे बढ़ने में जो शिक्षा बालकों की सहायता करती है वही शिक्षा प्राणवान है।" यहाँ स्वाधीनता का अभिप्राय यह है कि बालक की समस्त प्रच्छन्न शक्तियाँ विकसित हो जायँ, उसकी चिन्ताशक्ति निर्लिप्त होकर किसी विषय पर विचार कर सके। यह सब सिद्धान्तों के आचरण से ही संभव है; यह जीवन के साथ शिक्षण के घनिष्ठ सम्पर्क से ही संभव है। गांधी जी ने ठीक ही लिखा है:—"पढ़ने का अर्थ ही गलत हो गया है। जो गुनना न जानें, वे पढ़े नहीं हैं। जो गुन सकें वही पढ़े हैं।" जीवन को भावनाप्रधान बनाने, उसमें कवित्व और सौन्दर्य लाने के लिए जितना स्थान कल्पना को दिया जा सकता है उतना ही स्थान

जीवन को ठीक तरह से समझने के लिए वास्तविकता को भी देना चाहिए। यथासंभव सम्पूर्ण शिक्षा वस्तु के साक्षात् परिचय द्वारा दी जानी चाहिए। शिक्षा की योजना में इन्द्रिय-विकास को स्थान देना और विद्यार्थियों की अवलोकन शक्ति ('पावर आव् आबज़र्वेशन') बढ़ाने के लिए उन्हें पाठशाला की दीवारों से बाहर विशाल जगत् के सम्पर्क में आने देना आवश्यक है। संसार के प्रत्यक्ष परिचय में आने से मनुष्य में अनेक प्रकार की शक्तियों का विकास होता है। वहाँ वह अनेक प्रकार के मनुष्यों, संस्थाओं, विचार-प्रणालियों, जीवन-व्यवस्थाओं के परिचय में आता है। इससे उसकी विचार-शक्ति, उसका विवेक, उसकी धारणा शक्ति बढ़ती है; अनुभव और ज्ञान की वृद्धि होती है और शब्द या वाणी के पीछे जो वास्तविक चमत्कार होता है उसे समझने की क्षमता प्राप्त होती है।

कुछ लोग यह भी कहते हैं कि शिक्षणकाल भावी जीवन की तैयारी का काल है। पहले पढ़ो, फिर पढ़ाई समाप्त होने पर जीवन-युद्ध में भाग लो। यह विचारधारा अवैज्ञानिक है और अनुभव ने इसकी निरर्थकता सिद्ध कर दी है। जीवन के टुकड़े नहीं किये जा सकते, उसकी एक अविच्छिन्न धारा होती है और इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया के साथ-साथ चलने से उसमें पूर्णता आती है। गीता में भगवान् कृष्ण ने मानव-जीवन का रहस्य प्रतिपादित किया है। विश्व के साहित्य में जीवन को प्रकाश और बल देने वाला इससे उत्तम ग्रन्थ नहीं है। इस पुस्तक में जो शक्ति है वह इसीलिए कि जीवन-युद्ध के बीच उसकी रचना हुई। तत्वचिन्तक विनोबा कहते हैं:—"भगवान् ने अर्जुन से कुरुक्षेत्र में भगवद्गीता कही। पहले भगवद्गीता के 'क्लास' लेकर फिर अर्जुन को कुरुक्षेत्र में नहीं ढकेला। हम जिसे जीवन की तैयारी का ज्ञान कहते हैं उसे जीवन से बिल्कुल अलिप्त रखते हैं इसलिए उक्त ज्ञान से मृत्यु की ही तैयारी होती है।" इसीलिए पढ़ाई के दिनों में नाना प्रकार की

कल्पनाएँ करनेवाला विद्यार्थी पढ़ाई समाप्त करते ही अपने को ऐसी विषम स्थिति में पाता है कि समाज-सेवा, देश-सेवा, अथवा कोई महत् कार्य करने की उसकी सब महत्वाकांक्षाओं का अन्त हो जाता है और केवल पेट भरने की समस्या हल करने में ही उसकी शक्तियां समाप्त हो जाती हैं। हजारों शिवाजी और प्रताप, हजारों दुर्गावती, चाँदबीबी और लक्ष्मीबाई, हजारों प्रह्लाद और ध्रुव इस प्रकार नष्ट हो जाते हैं। "गीता जैसे कुरुक्षेत्र में कही गई वैसे ही शिक्षा जीवन-क्षेत्र में देनी चाहिए। अर्जुन के सामने प्रत्यक्ष कर्तव्य करते हुए समस्या उत्पन्न हुई। उसका उत्तर देने के लिए भगवद्गीता का निर्माण हुआ। इसी का नाम शिक्षा है।"

केवल साहित्यिक शिक्षा देने का परिणाम यह भी हुआ है कि हमारे देश में साक्षर मनुष्यों का एक अभिमानी वर्ग बन गया है। यह शारीरिक श्रम या कार्य करने वालों को हीन दृष्टि से देखता है, उन्हें निम्नवर्ग का समझता है और श्रम की पवित्रता का भाव उसमें से सर्वथा लुप्त हो गया है। नौकरों चाकरों के सहारे अपेक्षाकृत आराम की जिन्दगी बिताना ही उसका लक्ष्य है। ऐसे आदमियों से ज्ञान की अनवरत साधना भी नहीं होती क्योंकि उसके लिए भी तप और अपने को भूलकर कार्य में तन्मय हो जाने की आवश्यकता पड़ती है। उसमें 'अहं' का त्याग करके अपने कार्य में आत्मार्पण करना पड़ता है। आज के सभ्य समाज में शरीर-श्रम वाले उपयोगी पेशों से भी भागने की जो वृत्ति है उसका कारण यह शिक्षा-प्रणाली है जिसमें जीवन के ओजस्वी तत्वों का सर्वथा अभाव है। इसे 'कोरा शिक्षण' ही कहा जा सकता है। आचार्य विनोबा ने अपनी निराली व्यङ्गशैली में "कोरा शिक्षण' का एक चित्र यों दिया हैः—

एक देशसेवाभिलाषी युवक से किसी ने पूछा—"कहिए, अपनी समझ में आप क्या काम अच्छा कर सकते हैं?"

उसने उत्तर दिया—"मेरा ख्याल है, मैं केवल शिक्षण का काम कर सकता हूँ और उसी का शौक है।"

"ठीक है। प्रायः आदमी को जो आता है उसका विवशतः उसे शौक होता है पर यह कहिए, आप दूसरा कोई काम कर सकेंगे या नहीं?"

"जी नहीं। दूसरा कोई काम करने नहीं आयेगा। केवल सिखा सकता हूँ और विश्वास है कि अच्छा सिखा सकता हूँ।"

"हाँ, हाँ, अच्छा सिखाने में क्या संशय है, पर अच्छा क्या सिखा सकते हैं? कातना, धुनना, बुनना, अच्छा सिखा सकेंगे?"

"नहीं, वह नहीं सिखा सकता।"

"तब, सिलाई? रँगाई? बढ़ईगिरी?"

"ना, यह सब कुछ नहीं।"

"रसोई बनाना...इत्यादि घरेलू काम सिखा सकेंगे?"

"नहीं, काम के नाम से तो मैंने कुछ किया ही नहीं, मैं केवल शिक्षण का.....।"

"अरे, जो पूछा जाता है उसी में नहीं नहीं, और कहे जाते हैं 'केवल' शिक्षण का काम कर सकता हूँ। इसके अर्थ क्या हैं? उद्यानकला सिखा सकियेगा?"

देशसेवाभिलाषी ने जरा चिढ़कर कहा, "यह क्या पूछ रहे हैं? मैंने तो प्रारम्भ में ही कह दिया, मुझे दूसरा काम करना नहीं आता। मैं साहित्य पढ़ा सकता हूँ।"

प्रश्नकर्ता ने जरा विनोद से कहा—"ठीक कहा। अब आपकी बात समझ में आई। आप 'रामचरित मानस'—जैसी पुस्तक लिखना सिखा सकते हैं क्या?"

अब तो देशसेवाभिलाषी महाशय का पारा गरम हो उठा, और मुँह से

कुछ ऊटपटांग निकलने को ही था कि प्रश्नकर्त्ता बीच में ही बोल उठा—"शान्ति, क्षमा, तितिक्षा रखना सिखा सकेंगे?"

अब तो हद हो गई। आग में जैसे मिट्टी का तेल डाल दिया हो। यह संवाद खूब ज़ोर से भभकता। लेकिन प्रश्नकर्त्ता ने तुरन्त उसे पानी डालकर बुझा दिया—"मैं आपकी बात समझ गया, आप लिखना पढ़ना सिखा सकेंगे। इसका भी जीवन में थोड़ा सा उपयोग है..........। खैर, आप बुनाई सीखने को तैयार हैं?"

"अब कोई नई चीज सीखने की उमंग नहीं है, और तिस पर बुनाई का काम तो मुझे आने का ही नहीं, क्योंकि आज तक हाथ को ऐसी बातों की कभी आदत नहीं पड़ी।"

"माना, सीखने में कुछ अधिक समय लगेगा, पर न आने की क्या बात है?"

"मैं तो समझता हूँ, नहीं आयेगा। पर मान लीजिए, मेहनत से आया भी तो मुझे इसमें बड़ी झंझट मालूम होती है; इसलिए मुझसे यह नहीं होगा, यही समझिए।"

"ठीक। जैसे लिखना सिखाने को तैयार हैं वैसे स्वयं लिखने का काम कर सकते हैं?"

"हाँ, अवश्य कर सकता हूँ किन्तु बैठे-बैठे केवल लिखते रहने का काम है झंझटी। फिर भी उसे करने में कोई आपत्ति नहीं है।"

इस चित्र में स्पष्ट हो जाता है कि जीवनोपयोगी क्रियाशीलता से शून्य शिक्षण ने हमें किस प्रकार पंगु बना दिया है। नवीन ज्ञान के शोध और अर्जन की स्वाभाविक मानवी प्रवृत्ति को भी उसने शिथिल कर दिया है। जो है, वह है, उससे आगे बढ़ने की न उमंग रह गई है, न साहस।

प्रकाश और ताप दोनों सूर्य या अग्नि के गुण हैं। इसी प्रकार सिद्धान्त

और क्रियाशीलता, ज्ञान और आचरण, विचार और प्रयोग पूर्ण शिक्षण के गुण हैं। जैसे अग्नि की दो शक्तियाँ, स्वाहा (आहुति देना) और स्वधा (धारण करना) हैं तैसे ही शिक्षण के अंग विचार और आचार हैं। बिना विचार के आचार अधूरा एवं शक्तिहीन है; बिना आचार के विचार जीवनहीन है। जब विचारों का प्रत्यक्ष जीवन से नाता टूट जाता है तो वे निर्जीव हो जाते हैं; उनकी प्राणशक्ति का लोप हो जाता है।

वस्तुतः जब साहित्य जीवन में अवतीर्ण होता है; जब भाषा पुस्तकों में नहीं, वाणी में नहीं, कार्य में बोलती है; जब ज्ञान आचारवान् होने का प्रण करता है; जब पुस्तक का ज्ञान सजीव रक्त बनकर हमारी धमनियों में हमारे पौरुष को पुकारता हुआ दौड़ता फिरता है; हमारे मस्तिष्क में विवेक को प्रकाशित करता है; हमारे हृदय में तीव्र सेवाभिलाषा और संकल्प के रूप में धड़कता है; हमारे प्राणों को मानव समाज की स्वास्थ्य-साधना की ओर अग्रसर करता है, तभी शिक्षण के पीछे वह शक्ति उदय होती है जो सभ्यता और संस्कृति का मानदंड ऊँचा करती है, जो ज्ञान के यात्रा-पथ को ज्ञानार्थी के दृढ़ पदक्षेप से सदैव ध्वनित रखती है। शिक्षा जीवन की भूमिका पर ही पनपती और खिलती है और जहाँ जीवन के उदात्त स्वर से उसका सामंजस्य नहीं है, तहाँ वह कोरी साक्षरता मात्र है, और वह अपने उच्च पद तथा कार्य से च्युत है।

शिक्षक और शिक्षार्थी

जब भारतीय सभ्यता के अच्छे दिन थे, उसमें मौलिक सत्यों के अन्वेषण और ग्रहण की वृत्ति और साहस था तब हमारी शिक्षा-प्रणाली आज की शिक्षा-प्रणाली से सर्वथा भिन्न थी। उस समय प्रकृति की गोद में स्थित आश्रमों में शुद्ध और श्रमपूर्ण जीवन बिताते हुए शिक्षार्थी या ब्रह्मचारी शिक्षा का मर्म हृदय और जीवन में उतारते थे। प्रकृति का विराट सौन्दर्य, जिससे शक्ति के झरने बहते थे, उन्हें श्रेष्ठ संस्कार प्रदान करता था; वे प्रकृति के साथ-साथ बढ़ते और स्वस्थ होते थे। सिवाय आचार्य के उनपर किसी भी बाहरी शक्ति का नियंत्रण न था। राजपुत्र साधारण दीन प्रजा की सन्तति के साथ एक तल पर रहते थे। किसी प्रकार के बन्धन में शिक्षा बँधी न थी। कोई शुल्क (फीस) नहीं; प्रकाशकों की स्वार्थ वृत्ति के कारण अव्यावहारिक पाठ्यक्रम का कोई बोझ नहीं; आधुनिक स्कूलों का निजत्व, ममत्वशून्य वातावरण नहीं; वेतन ही जिनका उपास्य है और उसी को देख कर जो शिक्षा के बन्धन एवं कर्तव्य का निर्णय अंगीकार करते हैं, ऐसे शिक्षकों का सम्बन्ध नहीं, राज्य के, अर्थ के, सब प्रकार से बाहरी दबाव से मुक्त, सीधा, सरल, झरनों के समीप, पर्वतों के समीप, नदियों के समीप, वृक्षों के नीचे पृथ्वी पर आसन बिछाकर ज्ञान प्राप्त करने का शुद्ध मुक्त वातावरण—ऐसी उस समय की शिक्षा थी। शिक्षार्थी प्रकृति के साथ दिन-रात बिताते हुए जो शक्ति प्राप्त करते थे उसी को समाज के जीवन में, उसके कल्याण के लिए, अर्पित कर देते थे।

आज की शिक्षा का रूप दूसरा है। उसका साँचा इस देश का साँचा नहीं है; उसमें विजातीय तत्वों की प्रधानता है। समय बदल गया है, स्थिति बदल

गई है, दुनिया तेजी से बदल रही है, इसलिए प्राचीन प्रणाली ज्यों की त्यों तो रखी नहीं जा सकती। आज ज्ञान का स्रोत गहराई से उठाकर राजमार्गों एवं विस्तृत भूखण्डों में बहने के लिए मुक्त कर दिया गया है। आधुनिक सभ्यता एवं जीवन की जटिलताओं के कारण शिक्षा के उद्देश्य भी शुद्ध न रहकर जटिल हो गये हैं। इसलिए इस क्षेत्र को भी आधुनिक जीवन की आवश्यकताओं के अनुरूप तो बनना ही होगा। दुःख यही है कि मानसशास्त्र एवं नीतिशास्त्र के क्षेत्रों में जो विकास हुआ है उसका पूरा लाभ शिक्षणक्षेत्र को नहीं मिल रहा है। यहाँ शालाओं का रूप और संगठन बहुत करके जीवन-शून्य है; शिक्षकों में शिक्षक की मनोवृत्ति और उत्तरदायित्व की कमी है और शिक्षार्थी का जीवन उद्देश्यहीन, पथप्रदर्शन-शून्य भटकता हुआ जीवन है।

वर्तमान प्रणाली में शिक्षक और शिक्षार्थी दोनों एक बँधे हुए वातावरण में रहते हैं। कोई भी शिक्षा-प्रणाली हो, उसका सर्वाधिक लाभ तभी उठाया जा सकता है जब वह शुद्ध ज्ञान और चारित्र्य का विकास करे। ऐसी शिक्षा का मूल पुस्तकों में नहीं, शिक्षक के जीवन में होता है। प्राचीन काल में हम अपने शिक्षक को आचार्य कहते थे। आचार्य का अर्थ ही है—आचार-वान्। विद्या जिनमें आचरणप्रधान हो जाती थी, जो ज्ञान को जीवन में उतार लेते थे, वे आचार्य होते थे। स्कूल में एक कौटुम्बिक स्नेह का वातावरण था। आचार्य बच्चों के लिए पिता होते थे। शिक्षा आचार्य के जीवन में केन्द्रित थी। कोई बाह्य परीक्षा शिक्षार्थी के ज्ञान की कसौटी न थी। तब का शिक्षार्थी यह न कहता था कि मैं एम० ए० हूँ; मैं साहित्याचार्य हूँ, मैं दर्शन-शास्त्री हूँ; वह अपना परिचय देते हुए कहता था, मैं अमुक का शिष्य हूँ। अमुक का शिष्य होना ही उस समय प्रमाणपत्र था। शिक्षक को कितना ऊँचा पद और गौरव मिला था। यह इसीलिए कि आचार्य ही जीवन का माप था; उसका जीवन इतना गहरा, इतना निर्मल, व्यापक अनुभूतियों एवं विचारों से

पूर्ण, लोकहित की प्रेरणाओं से प्रकाशित होता था कि उस के संसर्ग में आना ही सब से बड़ी शिक्षा समझी जाती थी।

इधर मनोविज्ञान और शिक्षण तथा नीतिशास्त्र के क्षेत्रों में विचार की जो गति है उससे भी प्राचीन धारणा पुष्ट होती है। इन क्षेत्रों में अन्वेषण करने वाले विशेषज्ञों का भी निष्कर्ष यही है कि शिक्षण का लाभ वस्तुतः शिक्षक के जीवन और चरित्र पर निर्भर है। नवीन शिक्षक की कल्पना भी यही है कि वह शिक्षार्थी के हृदय में प्रवेश करके उस की सद्वृत्तियों को उभाड़े, उसकी जिज्ञासा जाग्रत करे और उसे स्वतंत्र चिन्तन की दिशा में प्रेरित करे। छड़ी और घुड़कियों से छात्रों को नियन्त्रण में रखनेवाला शिक्षक आज का आदर्श शिक्षक नहीं है, उलटे वह बच्चों में अपने निष्ठुर व्यवहार से कायरता, असत्य-भाषण और क्रूरता के बीज बोता है। जो शिक्षक समझता है कि उसके डर से क्लास में बच्चे चूँ नहीं करते अतः वह सफल है, वह अपने को धोखा देता है और बच्चों का तथा समाज का अहित कर रहा है। एक अंग्रेज शिक्षा-शास्त्री ने ऐसे शिक्षकों की चर्चा करते हुए लिखा है—"जो बालक प्रतिदिन साढ़े पाँच घंटे ऐसे शिक्षक के सहवास में रहने को विवश किया जाता है जो स्वभाव से चिड़चिड़ा, निर्दय, कठोर और क्रोधी है, वह बालक ऐसी शाला में भर्ती किया गया है जहाँ से वह सिवाय दुर्गुणों के कुछ सीख नहीं सकता।"[१] जिस शिक्षक में शिक्षार्थियों के प्रति सच्चा प्रेमभाव नहीं है, जिसमें बच्चों को सिखाने के साथ ही स्वयं उनसे सीखने की प्रवृत्ति नहीं है वह शिक्षक के उत्तरदायित्व को नहीं समझता। डा० मांटीसेरी ने ठीक लिखा है—"शिक्षक की वाचालता की अपेक्षा उसका मौन अधिक उपयोगी है। सिखाने

---

[१] "A boy compelled for 5½ hours a day to see the countenance, and hear the voice of a fretful, unkind, hard and passionate man is placed in the School of Vice."

की अपेक्षा शिक्षक को बालकों का अवलोकन करने की अधिक आवश्यकता है। यह अभिमान कि मैं भूल कर ही नहीं सकता शिक्षक का महान् दोष है। ·········धीरज का गुण शिक्षक में अत्यन्त महत्व की वस्तु है।"

शिक्षक का प्रधान कर्तव्य शिक्षार्थी की नैतिक भावना को, विचार और प्रेरणा देकर, विकसित कर देना है। पर हमारी दृष्टि केवल बौद्धिक विकास पर ही है। शिक्षा ने मनुष्य की बुद्धि का विकास करने में पर्याप्त सफलता प्राप्त की है पर मनुष्य की नैतिक भावना और प्रकृति को बन्धनमुक्त करने में उसे बहुत कम सफलता मिली है। इसीलिए मनुष्य का ज्ञान अशक्त और उसकी बुद्धि लँगड़ी है। जब जीवन में, समाज या विश्व में कोई ऐसी समस्या आ जाती है जिसे हम अपने नैतिक आदर्शों के प्रयोग से हल कर सकते हैं तब हम असफल होते हैं। इतने बौद्धिक विकास के होते हुए और मानव जाति के अधिकांश भाग की अनिच्छा होते हुए भी दंगों और युद्धों का होना इस बात का प्रमाण है कि नैतिक शक्ति का विकास बुद्धि के विकास के साथ-साथ नहीं हो रहा है।

इसका कारण क्या है? कारण यह है कि मानव जीवन भयग्रस्त है। और उसने दंडबल को सामाजिक समस्याओं के हल करने का साधन मान रखा है। इस भावना के मूल में हमारी शिक्षा है। जहाँ शिक्षक और शिक्षार्थी का सम्बन्ध शुद्ध प्रेम और वास्तविक सहानुभूति का सम्बन्ध नहीं है तहाँ शिक्षार्थी भय के वातावरण में साँस लेता और पनपता है और उसी पद्धति को अपने जीवन में ग्रहण कर लेता है। शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य सफल होने के लिए पहले शिक्षक को आत्मशुद्धि करनी पड़ेगी। स्टीफेन फूट इंग्लैंड के एक प्रसिद्ध शिक्षक रहे हैं। वे अपने अनुभव व्यक्त करते हुए लिखते हैं कि—"वी रियलाइज दैट दि टास्क आव् एजूकेशन इज टु टीच ब्वाएज ऐंड गर्ल्स ह्वाट लाइफ इज, ऐंड टु शो देम हाऊ टु लिव इट। सो फार ऐज आई वाज कनसर्ण्ड,

हाउएवर, आई वाज मेयरली ग्रोपिग टुवर्डस ए रियलाइजेशन ऑव् दि सिगनिफिकेंस ऑव् लाइफ़: ऐंड आई कुड नाट फाइंड इट अंटिल आई माई-सेल्फ़ हेड लर्ट हाउ टु लिव।" अर्थात् "हम अनुभव करते हैं कि शिक्षा कार्य लड़कों-लड़कियों को यह बता देना है कि जीवन क्या है और उन्हें यह दिखा देना है कि जीवन कैसे जिया जाता—बिताया जाता है। जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, मैं केवल जीवन के महत्व की अनुभूति की खोज में भटकता रहा, और तब तक उसे न प्राप्त कर सका जब तक कि मैं स्वयं जीने की कला न जान गया।" इसका अभिप्राय यही है कि जब तक शिक्षक स्वयं जीवन का मर्म नहीं जानता और जब तक वह स्वयं उस मर्म के अनुकूल अपने जीवन को नहीं ढाल सका है तब तक वह शिक्षार्थियों के जीवन के निर्माण में क्या सहायता पहुँचा सकेगा। श्री फूट आगे इस बात को स्वयं ही स्पष्ट कर देते हैं:—

"लेट मी से ऐटवंस, देयरफार, दैट दि की टु दि सिचुएशन लाईज इन दि टीचर। सो लॉंग ऐज आई हेड फियर इन माई ओन लाइफ़, आई कुड नाट पासिब्ली शो ए ब्वाय हाऊ टु गेट विक्टरी ओवर फियर। ह्वाइल आई कुड, ऐंड फ्रीक्वें-टली डिड, हेल्प ब्वाएज टुवर्ड्स दि कंट्रोल ऑव् देमसेल्व्ज इन दि एरिया ऑव् इम्पोरिटी, आई कुड नाट स्पीक विद् सर्टेंटी ऑव् दि वे टु कम्प्लीट विक्टरी सो लॉंग ऐज आई वाज डिफीटेड इन दैट एरिया माईसेल्फ़।" अर्थात् "इस-लिए हमें तुरन्त यह कह देना चाहिए कि परिस्थिति की कुंजी (चाभी) शिक्षक के पास है। जब तक मेरा अपना जीवन भयसंकुल था तब तक मैं किसी लड़के को भय के ऊपर विजय प्राप्त करने का उपाय नहीं बता सकता था। यद्यपि मैं बच्चों को अपवित्रता के क्षेत्र में अपने ऊपर नियन्त्रण स्थापित करने में सहायता दे सकता था और प्रायः देता भी था किन्तु जब तक मैं स्वयं उस क्षेत्र में पराजित था तब तक, दृढ़ निश्चय के साथ पूर्ण विजय का मार्ग बताने की हिम्मत नहीं कर सकता।" विश्व के जीवन में जैसे आज भय का

राज्य है वैसे ही स्कूल में भी भय तथा निष्फलता का वातावरण है। जीवन की अत्यन्त प्रभावयोग्य—कच्ची—अवस्था में शिक्षार्थी के मानस पर इसी भय की जो छाप पड़ती है वही बड़े होने पर समाज के विविध क्षेत्रों में फैल जाती है। शिक्षा को उसके कल्याणकारी रूप में लाने के लिए शिक्षक को पूर्ण आत्म-परिवर्तन करना होगा। उसे वह उत्तरदायित्व ग्रहण करना होगा जो उसका है, और सिखाने का अहंकार छोड़कर एक ही मार्ग के यात्री के रूप में उसे शिक्षार्थी के साथ जीवन के स्वाध्याय और सदाचरण में भाग लेना होगा। शिक्षक को अपना उपदेशक रूप त्यागना होगा; शिक्षक और शिष्य के बीच एक नवीन प्रेमल सम्बन्ध की स्थापना करनी होगी—पिता पुत्र, माता और सन्तान के सम्बन्ध की स्थापना; एक ही साधना में लगे हुए दो साधकों की समान अनुभूति की भावना। केवल वाणी और जिह्वा से नहीं, कार्य और जीवन से शिक्षक को शिक्षा देनी होगी। केवल उपदेश के सहारे मनुष्य को जो भावात्मक उत्थान का आभास होता है वह तब तक हानि ही पहुँचाता है जब तक तदनुकूल आचरण की चेष्टा भी नहीं उत्पन्न होती। एक अंग्रेजी सूत्र में कहा गया है—"इम्प्रेशन विदाउट एक्सप्रेशन लीड्स टु डिप्रेशन।" अर्थात् "बिना अभिव्यक्ति के भावना की छाप से उलटे क्षति होती है।"

ऐसी बात नहीं है कि हम इन बातों से अपरिचित हों अथवा इन्हें समझते न हों। हम वर्तमान शिक्षा-प्रणाली के दोषों का अनुभव तो करते हैं लेकिन दुर्भाग्य यह है कि हम अपने बच्चों को जैसी यह दुनिया अभी है उसी के लिए तैयार करना चाहते हैं, न कि जैसी दुनिया हम चाहते हैं उसके लिए। यही सब से बड़ी बाधा है। शिक्षा का वास्तविक कार्य बच्चों को दुनिया जैसी है उसके लिए तैयार करना नहीं है; उसका कार्य नये सिरे से, नूतन आधारों पर विश्व की रचना करना है। एक नूतन सृष्टि ही शिक्षा का लक्ष्य है और

यह तबतक संभव नहीं है जब तक शिक्षक जीवन के विकास में अपने वास्तविक उत्तरदायित्व का अनुभव न करे ; जब तक उसमें सदाचरण का प्रकाश न हो, जब तक उसमें सच्चे ज्ञान की प्यास न हो, और जब तक वह शुद्ध और स्वतंत्र वातावरण में अपने तथा अपने शिष्यों के जीवन का संस्कार करने की क्षमता से शून्य है। आदर्श शिक्षा-प्रणाली में शिक्षक के जीवन में विद्या व्यक्त होगी। शिक्षक का कर्तव्य है कि वह मानवता के विकास—कार्य में अपने चरित्र और जीवन के आदर्श से शिक्षार्थी में प्राण एवं शक्ति की प्रतिष्ठा करे और उस महान् उत्तरदायित्व को समझे जो उसका है।

———

व्यक्ति और समाज

यदि हम अपने आस-पास के व्यक्तियों के जीवन पर ध्यान दें, अथवा स्वयं अपने हृदय के भावों की परीक्षा करें तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँच जायँगे कि जितने भी आदमी हैं सब सुख की खोज में हैं, सब को आनन्द की इच्छा है। वे जितने काम करते हैं, सब के मूल में यही इच्छा होती है। संसार में कोई भी ऐसा कार्य नहीं है जिसके पीछे प्रत्यक्ष या प्रकारान्तर से सुख की कामना विद्यमान न हो।

इतना होते हुए भी सुख बहुत ही कम लोगों को मिल पाता है। बल्कि व्यक्ति की इस सुख-स्पृहा के कारण ही अनेक जटिल समस्याएँ पैदा होती हैं। समाज और व्यक्ति में संघर्ष उत्पन्न होता है; आदमी दूसरों को दबाकर आगे बढ़ना चाहता है; दूसरों के हित, अपने हित एवं स्वार्थ के सम्मुख गौण हो जाते हैं। मनुष्य मनुष्य के प्रति अपनी बन्धुता को भूल जाता है; जहाँ प्रेम की सरिता बहती थी तहाँ द्वेष का पारावार लहरें मारता है; जहाँ शान्ति होनी चाहिए थी, तहाँ युद्ध-देवता के भयंकर हुंकारों से मेदिनी काँप उठती है। सुख की व्यापक कामना के होते हुए भी विश्व की अधिकांश जन-संख्या आज दुखी और पीड़ित है। ऐसा क्यों होता है?

इस प्रश्न को समझने और इसका उत्तर प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि हम व्यक्ति के स्वभाव और समाज के साथ उसके सम्बन्ध को भलीभाँति समझने का प्रयत्न करें। व्यक्ति और समाज के पारस्परिक सम्बन्धों के सन्तुलन पर ही मानव का भविष्य निर्भर है।

प्रत्येक प्राणी में, विशेषतः मनुष्य में, दो प्रवृत्तियाँ वर्तमान हैं। अध्यात्मिक भाषा में इसे आत्मानुभव और शारीरिक सुख वा विकास कहेंगे। वैज्ञा-

निक भाषा में इसे अन्तःसंस्कार तथा बाह्य प्रसार कहेंगे। इसे ही केन्द्रोन्मुखी (सेंट्रीपेटल) तथा बाह्यप्रसारी (सेंट्रीफ्यूगल) वृत्तियाँ कहते हैं। एक में अपने को शुद्ध रखने की, दूसरे में अपने अस्तित्व के रक्षण की भावना है। एक में दूसरों को अपना लेने की, प्रेम की, सहयोग की भावना है; दूसरे में अस्तित्व-रक्षा और विजय की भावना है। 'स्व' को क़ायम रखने, अपनी रक्षा करने की प्रवृत्ति मानव में सबसे पुरानी है। यही उसके अस्तित्व का मूल है। इसी से 'समर्थ की अस्तित्व-रक्षा' ('सर्वाइवल ऑव् दि फिटेस्ट') का सिद्धान्त निकला। वह प्राणी जीवन धारण करने में सफल हो सकता है जो समर्थ हो। वस्तुतः इस एक ही मूल प्रवृत्ति से दूसरी सब प्रवृत्तियाँ विकसित हुई हैं।

मानव-समाज का मूल व्यक्ति है। समाज वस्तुतः व्यक्ति का ही एक विकसित और फैला हुआ रूप है। व्यक्ति के मूल में आत्म-रक्षण की जो प्रवृत्ति थी, उसी से उसकी दूसरी प्रवृत्ति आत्म-प्रसार का जन्म हुआ। आत्म-प्रसार की इस प्रवृत्ति का व्यावहारिक—क्रियात्मक—रूप समाज है। अपने सुख एवं शान्ति के लिए मनुष्य ने विवाह-प्रथा को जन्म दिया, फिर कुटुम्ब बने, फिरके बने, समूह एवं जातियाँ बनीं, ग्राम बने। यह सब व्यक्ति का ही विकास है। ज्यों-ज्यों व्यक्ति का प्रसार होता गया है, उसके सामने व्यवस्था की कठिनाइयाँ बढ़ती गई हैं। दूर-दूर फैले हुए अंशों में एक बंधन और एक व्यवस्था लाने के लिए कुछ सार्वजनिक नियम बनाये गये। जब सभ्यता का, समाज का आरम्भिक रूप था, सब की जीविका की समस्या हल हो जाती थी तब तक बहुत ही सामान्य नियमों और परम्पराओं से काम चल जाता था पर ज्यों-ज्यों व्यक्ति की प्रसार-प्रवृत्ति अधिक शक्तिमान और गतिशील होती गई, फलतः जन-संख्या बढ़ती गई त्यों-त्यों जीविका की समस्या जटिल होती गई, कुटुम्ब, समूह, ग्राम में अधिकार तथा उत्तरदायित्व

के प्रश्न खड़े हुए; जो अपने निकट हैं, उनका हित पहले आया, जो दूर हैं उनका हित गौण हो गया। फलतः संगठित समूह बने और संगठित स्वार्थों का जन्म हुआ। तब पारस्परिक सम्बन्धों को नियंत्रित करने के लिए पंचायतों का जन्म हुआ, कहीं नेता कहीं राजा चुना गया; कुछ नियम बनाये गये। फिर राज और कानून की बारी आई। इस तरह समाज धीरे-धीरे व्यक्ति से निकल कर भी व्यक्ति से अलग सत्ता रखने वाला बन गया।

पर यहाँ यह बात भूलनी न चाहिए कि समाज, राज और कानून इत्यादि व्यक्ति ने ही अपने सुख और शान्ति तथा निश्चितता के लिए बनाया। व्यक्ति ही समाज का निर्माता है। व्यक्ति ने ही अपने श्रेष्ठ स्वार्थों एवं सुख-सुविधाओं के लिए समाज का निर्माण किया है। मूल वस्तु व्यक्ति है, समाज या राज नहीं। समाज शरीर है, व्यक्ति प्राण है। समाज वृक्ष है तो व्यक्ति उसका बीज या मूल है। इसलिए जहाँ व्यक्ति शक्तिमान, चैतन्य, अपने हित के साथ दूसरों के हित को देखने वाला, जीवन की श्रेष्ठ भावनाओं से पूर्ण है तहाँ समाज का भी कार्य ठीक ठीक चलता है। इसलिए व्यक्ति को वह सब स्वतंत्रता होनी चाहिए जो उसकी शक्तियों के विकास में सहायक हो।

सामान्यतः ऐसा मालूम होता है कि व्यक्ति ही समाज का प्रारम्भिक रूप है अतः उसकी प्रधानता होनी चाहिए। किन्तु मानव समाज के इतिहास के अध्ययन से हमें पता चलता है कि यह सरल सिद्धान्त वस्तुतः उतना सरल नहीं रह गया है जितना कभी रहा होगा। प्रत्येक आदमी सुख चाहता है; इस सुख की इच्छा से ही वह जीवन की विविध सुविधाओं और सामग्रियों पर अधिकार करना चाहता है। सामग्री एवं सुविधाएँ कम हैं, मानव की कामना का अन्त नहीं, इसलिए सब को सब सुविधाएँ नहीं मिल पातीं। फलतः इनके लिए संघर्ष होता है। आपस में होड़ होती है। जिनमें अधिक शक्ति, अधिक क्षमता होती है, जो अधिक चतुर होता है, जीत जाता है; दूसरे रह जाते हैं।

जब आदमी देखता है कि प्रत्येक से विरोध करके उसका सफलता प्राप्त करना असंभव है तब वह बुद्धि से काम लेता है। तब वह विरोध और सहयोग में चुनाव से काम लेता है अर्थात् कुछ का सहयोग इसलिए करता है कि दूसरों के विरोध में सफलता मिले अथवा दूसरों के विरोध से रक्षा की जा सके। इस तरह समान स्वार्थ वाले संघटित हो जाते हैं और उनका एक वर्ग बन जाता है। यह वर्ग अपने विशिष्ट हित के लिए सब प्रकार की शक्ति प्राप्त करता है। जिस वर्ग के हाथ में अधिक साधन एवं सुविधाएँ होती हैं वही समाज का शासक वर्ग बन जाता है, और स्वार्थ के लिए अपने विरोधी वर्गों को आवश्यकता से अधिक बढ़ने नहीं देता। वह समाज की सम्पूर्ण व्यवस्था अपने हाथ में कर लेता है, और समाज की जितनी भी संस्थाएँ हैं, (जैसे पंचायतें, म्युनिसपैलटियाँ, शासन सभाएँ, राजसंस्था, शिक्षणसंस्थाएँ, उत्पत्ति के विविध साधन) और जिन्हें कभी व्यक्ति ने अपने सुख की खोज में निर्मित किया था उनपर अधिकार कर लेता है।

जब समाज का रूप इतना जटिल हो जाता है तब व्यक्ति और समाज के उचित सम्बन्धों का सन्तुलन नष्ट हो जाता है; तब व्यक्ति और समाज का रूप कुछ ऐसा हो जाता है कि दोनों में संघर्ष होने लगता है; दो पक्ष से बन जाते हैं और दोनों के स्वार्थ टकराने लगते हैं। कहीं व्यक्ति शासन संस्था पर अधिकार करके उसके द्वारा समाज के सामूहिक हितों के विरुद्ध आचरण करता है—बल्कि यह भी कहने लगता है कि समाज का वास्तविक हित मेरी आज्ञा मानने में ही है। कहीं समाज व्यक्ति को अपना एक क्षुद्र अंश समझ कर उसकी स्वतंत्र सत्ता मानने से इन्कार कर देता है। पहले प्रकार का उदाहरण अभी जर्मनी में हम देख चुके हैं जहाँ हिटलर सर्वेसर्वा बन गया था। दूसरे प्रकार का एक उत्तम उदाहरण रूस है।

ये दोनों अति-अवस्थाएँ हैं। सन्तुलित अवस्था वह है जिसमें व्यक्ति

और समाज दोनों के बीच संघर्ष नहीं, सहयोग है; जहाँ दोनों दोनों के अस्तित्व और हित की रक्षा के लिए हैं; जहाँ समाज इसलिए है कि वह अपने नियमों द्वारा व्यक्ति की श्रेष्ठ एवं मूर्छित शक्तियों को विकसित करे, उसकी निजी स्वतंत्रता पर यथासंभव हाथ न डाले और उसके विकास के लिए अनुकूल परिस्थिति एवं वातावरण बनावे। साम्य या सन्तुलन की अवस्था में व्यक्ति निजी स्वार्थों का अधिकांश के सुख के लिए उत्तरोत्तर त्याग करता जाता है। जब व्यक्ति के विकास तथा समाज के उत्थान की वह साम्यावस्था आती है तो वाह्य नियमों, बन्धनों तथा कानूनों, अतः राजसंस्था, की आवश्यकता ही नहीं रह जाती।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। सामान्यतः वह समाज में, अथवा समाज बनाकर, रहना पसन्द करता है। इसके लिए वह अपनी व्यक्तिगत इच्छाओं का, एक सीमा तक, नियंत्रण, समाज के हाथ में सौंप देता है पर जहाँ मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है तहाँ वह एक विचारप्रधान प्राणी भी है। कौन से अधिकार किस सीमा तक समाज के हाथ में रहें इसका निर्णय भी वह स्वयं, इसी विचार शक्ति के सहारे, करता है। चाहे समाज की जो व्यवस्था हो और चाहे जिस सिद्धान्त पर उसका संघटन हुआ हो, सत्यासत्य-निर्णय या विवेचन की जो शक्ति मनुष्य में है उसे छोड़ने या उसपर किसी दूसरे पक्ष को प्रधानता देने की बात वह कभी स्वीकार न करेगा। समाज को सम्पूर्ण शक्ति प्रदान करने वाले जितने भी वाद हैं वे भी एक या कुछ व्यक्तियों के मस्तिष्क की उपज हैं। अप्रतिम प्रतिभाशाली व्यक्ति ही समाज की विशिष्ट धारणाओं या व्यवस्थाओं को जन्म देते हैं। समाज जड़ है; वह स्वयं कुछ नहीं सोच सकता; सोचने वाले अथवा किसी विचारधारा का प्रवर्तन करने वाले कुछ जाग्रत व्यक्ति होते हैं।

कोई सामाज-व्यवस्था, कोई विचार-प्रणाली अथवा कोई सिद्धान्त समाज

के लिए हानिकर है या कल्याणकारी,इसका निर्णय तो व्यक्ति अपनी बुद्धि से ही करता है;निर्णय करने के बाद चाहे वह अपने अधिकार समाज को या विशिष्ट समूह को सौंप दे पर अन्तिम निर्णय का अधिकार उसे ही है। इसी बुद्धि की शक्ति के कारण मनुष्य मनुष्य है। इसलिए वह समाज-यन्त्र का पुरजा मात्र नहीं है; न उस रूप में रह सकता है। जहाँ वह समाज का अंग और इकाई है तहाँ समाज का निर्माता भी है। इसलिए व्यक्ति को समाज की एक इकाई मात्र बनाकर रखने का आन्दोलन स्थायी रूप से कभी सफल नहीं हो सकता; दूसरी ओर व्यक्ति को भी समाज के लिए उचित सीमा तक अपने हितों और स्वार्थों पर अंकुश रखना पड़ेगा और उसे समाज के प्रति आत्मोत्सर्ग की भावना रखनी पड़ेगी।

आज विश्व की जो दुःखद अवस्था है उसका एक मुख्य कारण व्यक्ति और समाज के बीच का विभेद है। दोनों के बीच खाई पड़ गई है और संघर्ष उपस्थित हो गया है। दोनों का आचरण परस्पर-विरुद्ध सिद्धान्तों पर आश्रित है। व्यक्ति के साथ-साथ समाज का नैतिक विकास नहीं हो रहा है। सामाजिक आचरण में हिंसा की प्रबलता है। जो बातें व्यक्तियों में गुण समझी जाती हैं वही राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्धों में उपेक्षणीय होजाती हैं। मुसलमान अच्छा है, हिन्दू अच्छा है। दोनों बड़े क़ायदे से मिलते और सज्जनता से बर्तते हैं पर जहाँ सामाजिक,साम्प्रदायिक स्वार्थों का सवाल आता है,दोनों पागल हो उठते हैं। ज़रा-सी देर में संकुचित सामुदायिक भावनाएँ मनुष्यों पर अधिकार कर लेती हैं। दंगे हो जाते हैं; सुव्यवस्थित जीवन अव्यवस्थित हो जाता है। वही आदमी जो कल तक शराफ़त का पुतला था, शैतान-सा दिखता है। इसी प्रकार ईमानदारी, स्पष्टता, सहृदयता, प्रेम, सहानुभूति, विश्वास और सहयोग की भावना सज्जनता की कसौटी है पर राष्ट्रों एवं राज्यों के बीच अस्पष्टता,सन्देह, अविश्वास, प्रतियोगिता, धमकी, जबर्दस्ती का बोलबाला है। जिस काम के

करने पर मनुष्य लुटेरा या खूनी समझा जाता है वही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति या आक्रामक राजधर्म में गुण समझा जाता है। वहाँ घूस, चोरी, धोका, षड्यन्त्र सब जायज हैं। असत्य का राज्य है। कूटनीति या डिप्लोमैसी का लोकप्रिय अर्थ ही असत्य है। जो जितनी सफलता से धोका दे सकता है वह उतना ही चतुर राजनीतिज्ञ है। राष्ट्रों के वैदेशिक विभाग षड्यन्त्रों के अड्डे हैं। जहाँ ज्ञान के क्षेत्र में व्यक्ति बहुत विकसित हो गया है और जीवन की स्वच्छता, आयु की वृद्धि तथा सुख-प्राप्ति की प्रयत्नों में अनेक जाग्रत मस्तिष्कों का योग है तहाँ समूहों, वर्गों और राष्ट्रों के संघर्ष में जीवन प्रत्येक पग पर खतरों से भर गया है ; मानव जीवन का मूल्य घट गया है। व्यक्ति की आन्तरिक स्वतंत्रता लुप्त हो गई है। समूह या वर्ग अपने प्रचार के प्रबल तथा सूक्ष्म साधनों से उसके मानस को शिथिल कर देता है। विश्व के अनेक मनीषी, जिनके विचारों का यों समाज में आदर है तथा जिनके ग्रन्थों का सम्मान है, युद्ध के विरुद्ध हैं, साधारण मानव युद्ध के विरुद्ध है, स्त्रियाँ, अपवादों को छोड़कर, प्रायः युद्ध के विरुद्ध विचार रखती हैं ; फिर भी विचारशील व्यक्ति तथा ये सब व्यक्ति, जिनके मिलाने से ही राष्ट्र का बहुमत तैयार होता है, युद्ध की गति रोकने में असमर्थ हो जाते हैं। पाखण्ड से सामाजिक जीवन पूर्ण है। व्यापार तथा अर्थनीति में शोषण एवं हानिकर प्रतियोगिता का राज्य है। अगर रास्ता चलते हुए किसी कमजोर आदमी को कोई लूट ले तो सब उसे बुरा कहते हैं। कानून में वह मुजरिम है ; उसके लिए दण्ड का विधान है। समाज और राज्य दोनों की चेष्टा होती है कि ऐसी हरकतें बढ़ने न पावें। पर सामूहिक जीवन में ठीक इसका उलटा है। जो राष्ट्र जबर्दस्त और शक्तिमान हैं, दुर्बल राष्ट्रों को दबोच लेते हैं, अथवा उनके प्रदेश जबर्दस्ती छीन लेते हैं। समाज में भी सुविधा एवं साधनसम्पन्न वर्ग दुर्बल एवं साधनहीन वर्गों का शोषण करते हैं। दूसरों की सम्पत्ति के शोषण पर ही उनके

अभ्युदय के महल खड़े हैं। लूट का बोलबाला है, यद्यपि इसके कुछ दूसरे और सुनने में मीठे नाम रख लिये गये हैं। सभ्य समाज में, व्यक्तिगत दृष्टि से, हत्या बहुत ही घृणित अपराध समझा जाता है पर राष्ट्रों के बीच ज़रा सी तनातनी पर हजारों लाखों आदमी मौत के घाट उतार दिये जाते हैं। इन युद्धों में जो आदमी अपने विरोधी देश और पक्ष के जितने ही आदमियों को मार सकता है, वह उतना ही वीर समझा जाता है। उसे बहादुरी के तमगे दिये जाते हैं। व्यक्ति और समष्टि के आचरण में कैसा वैषम्य है। मानव जीवन का एक पक्ष स्वस्थ, सुखद, मनोरंजक एवं सज्जनता और सहानुभूति से पूर्ण है, और उसी का दूसरा पक्ष अत्यन्त भद्दा, घृणापूर्ण और दुःख तथा अन्धकार से भरा हुआ है।

इस विषमता का एक प्रधान कारण यह है कि मानव-समाज में परस्पर विरोधी दो प्रकार के मूल्य निर्धारित हैं। व्यक्ति के आचरण के लिए कुछ दूसरे नियम हैं, समाज के लिए कुछ दूसरे। व्यक्ति के लिए जो गुण और सदाचरण आवश्यक माने जाते हैं, वे वर्ग या समष्टि के लिए बिल्कुल व्यर्थ मान लिये गये हैं। जो आदमी व्यक्तिगत जीवन में बुद्ध या ईसा के कानून एवं उपदेश का अनुसरण करने का दावा करता है वही सामूहिक, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में 'आँख के लिए आँख' वाली प्रतिहिंसा को उत्तेजन देता है। एक झूठे आदमी की समाज में कोई साख, कोई इज्जत नहीं होती। लोग छूत के रोगी की तरह उससे बचते हैं; पर कैसे आश्चर्य की बात है कि राज्य के बड़े-बड़े अधिकारी, जो झूठ बोलने की कला के प्रायः आचार्य होते हैं और जिनकी सफलता इसी बात पर निर्भर करती है, समाज के आदरणीय सदस्य समझे जाते हैं। सार्वजनिक जीवन जैसे नैतिक नियमों और सदाचरण के सिद्धान्तों से शून्य हो रहा है।

इस प्रकार व्यक्ति और समाज के लिए आचरण की जो सर्वथा भिन्न

दो कसौटियाँ बन गई हैं उसके कारण दोनों में विरोध और स्वार्थ-संघर्ष उपस्थित हो गया है। भ्रमवश इस सत्य को भुला दिया गया है कि व्यक्ति तथा समाज में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है और दोनों का विकास अन्योन्याश्रय है, परस्पर सहानुभूति एवं सहयोग पर निर्भर है। समाज के बिना व्यक्ति आज जीवन बिताने तथा जीवन का दायित्व निभाने में असमर्थ है; इसी प्रकार व्यक्ति की सच्ची उन्नति के बिना समाज का विकास भी संभव नहीं है। व्यक्ति यदि अपने सामाजिक आचरण में उच्छृंखल है, संयम को ग्रहण नहीं करता तो अन्त में व्यक्तिगत जीवन के क्षेत्र में भी गिर जायगा। इसी प्रकार समाज यदि व्यक्ति के जीवन में सदाचार, ईमानदारी, सच्चाई, सिद्धान्तनिष्ठा और विवेक के अनुसरण पर जोर नहीं देता तो कुछ दिनों में वह मानसिक रूप से अशक्त और असमर्थ अथवा फिर ज़बर्दस्त, अनीतिप्रधान, गुंडे और लुटेरे व्यक्तियों का झुंड मात्र बन कर रह जायगा। सच्ची और स्थायी उन्नति के लिए व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों प्रकार का विकास ज़रूरी है। व्यक्ति और समाज के स्वार्थों में सन्तुलन और सामञ्जस्य होना उन्नत जीवन की पहली शर्त है। समाज पर व्यक्ति की और व्यक्ति पर समाज की छाप हो, तभी मानवता का उचित विकास हो सकता है। एक ओर समाज को व्यक्ति की स्वतंत्रता अर्थात् स्वतंत्र चिन्तन, स्वतंत्र भाषण, स्वतंत्र लेखन की रक्षा करनी चाहिए तथा उसे अपनी प्रतिभा के विकास की सुविधाएँ देनी चाहिएँ; दूसरी ओर व्यक्ति में समाज के अन्य सदस्यों के प्रति बन्धुत्व की अनुभूति का विकास होना चाहिए; समाज के सामूहिक हित के लिए निजी हितों एवं स्वार्थों का त्याग करने की उदारता आनी चाहिए। जब तक ऐसा न होगा, मानवजाति सच्चे सुख की प्यास में भटकती ही रहेगी।

हमारा सामाजिक जीवन

आज के हमारे जीवन में इतनी विशृंखलता और विपरीतता इसीलिए है कि हममें सामाजिक कर्तव्य की अनुभूति क्षीण हो गई है। हमने व्यक्तित्व को समाज से अलग कर लिया है—सर्वथा अलग कर सकना तो संभव न था पर जितना हम कर सकते थे, हमने किया है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में स्वार्थ-सिद्धि के लिए जो इतनी आकुलता दिखाई पड़ती है, उसका कारण यही है कि हमने समझा ही नहीं है, कि दूसरों के, समाज के हित से व्यक्ति का हित विपरीत नहीं है। पूँजीपति ने अपना अलग वर्ग बना लिया है और धनार्जन की लिप्सा इतनी बढ़ा ली है कि दूसरे लोग दिन-दिन दीन-हीन होते जाते हैं। धनिक वर्ग यह भूल जाता है कि यह परम्परा अन्त में उसे ही खा जाने वाली है। ज्यों-ज्यों दूसरे गरीब होते जाते हैं, उनकी क्रयशक्ति का लोप होता जाता है, व्यापारी धनिक का कारबार भी उसी अंश में नष्ट हो रहा है। ज़मीदार किसान की गरीबी पर कब तक पनप सकता है!

सामाजिक दृष्टि से विचार करें तो यह विषम अवस्था घातक, अवांछनीय और अप्राकृतिक है। एक ओर लाखों मनुष्य भूख की पीड़ा से मर जाते हैं, पोषक द्रव्यों के अभाव में मानव जाति के हजारों लाखों बच्चे निर्जीव, कंकालवत् हो रहे हैं; कितने ही आवश्यक औषधियों का प्रबन्ध न कर सकने के कारण मर जाते हैं; जो बचते हैं उनका जीवन निराश, निरानन्द और स्वाद-हीन है। विश्व की कोटि-कोटि जनता अपने बच्चों की शिक्षा का प्रबन्ध नहीं कर पाती। माताओं के स्तन सूख गये हैं। दूसरी ओर खाद्य द्रव्य नष्ट हो जाते हैं; अधिक खा-खाकर पेटू लोग मरते और बीमारियों के शिकार होते हैं। कुछ के पास इतना फालतू धन है कि उन्हें सूझता नहीं कि उसका क्या किया

जाय ? बैंकों में, या तिजोरियों में पड़े करोड़ों फालतू रुपये, सामाजिक दृष्टि से नष्ट धन की कोटि में हैं;वे मिट्टी हैं; दुनिया के लिए उनका कोई उपयोग नहीं है। और ये ही रुपये हैं जिन्होंने राष्ट्र और समाज के कोटि-कोटि बच्चों का पौरुष छीन लिया है; उन्हें नंगा, भूखा, अशिक्षित रख छोड़ा है; उनके जीवन को विकृत कर दिया है और फलतः मानव जाति को सामूहिक दृष्टि से निर्बल कर रखा है।

जब विश्व के एक देश में लाखों आदमी भूख की पीड़ा से मर रहे होते हैं, अन्यत्र भावों को न गिरने देने या मूल्य के नियंत्रण के लिए अन्नराशि दबा ली जाती या नष्ट कर दी जाती है; जब प्राणी कपड़े के अभाव में व्याकुल घूमता है, परेशान है, तब चोर बाजार में कपड़ा भरा पड़ा है। मानव जाति ने शिक्षा और बुद्धि के क्षेत्र में इतनी उन्नति करके भी अपने को क्या बना दिया है। मनुष्य मनुष्य को लूट रहा है।

इस दुखःद स्थिति का कारण यही है कि हममें केवल निजी स्वार्थ-साधन की भावना प्रबल हो गई है; हमारा निजत्व संकुचित हो गया है। हम चाहते हैं कि हमारे पास अथाह धनराशि हो, चाहे दूसरे उसके कारण खाने बिना मरें। धन-संचय की अस्वाभाविक स्पृहा का यही कारण है। सामाजिक कल्याण की भावना दब गई है। दृष्टि संकुचित हो गई है। हम भूल गये हैं कि एक फालतू रुपया जो हमारी तिजोरी में आता है, दूसरी जगह किसी न किसी का पेट काट कर आता है। टाल्सटाय ने इस स्थिति पर विचार करते हुए ठीक ही लिखा है कि करोड़ों नंगों, अधभूखों के सामने होते धनी मनुष्य अपनी स्थिति और धनार्जन की प्यास पर विचार करे तो अपने लिए केवल लज्जित हो सकता है।

इस दुःखद सामाजिक स्थिति का परिणाम यह हुआ है कि समाज में वर्ग-भावना बढ़ रही है; एक वर्ग का हित दूसरे वर्ग के विरुद्ध है, पूंजीपति के

रहते श्रमिक सुख की साँस नहीं ले सकता, इस प्रकार की विचारधारा प्रबल होती जाती है। पारस्परिक कटुता बढ़ती है ; संघर्ष होते हैं ; युद्ध होते हैं ; शक्ति का क्षय और विनाश होता है।

यदि मनुष्य सामूहिक कल्याण का विचार करे, अपने हित और दूसरों के हित, व्यक्ति और समाज के पारस्परिक सम्बन्ध का ध्यान रखे तो संसार से इस दुःखद स्थिति का अन्त हो सकता है। प्रकृति हमारे पालन-पोषण के लिए प्रचुर सामग्री हमें देती है। यदि हम अपना पेट भरें पर दूसरों के पेट भरने में बाधा न दें, यदि हम स्वयं जियें पर दूसरों को भी जीने दें तो पृथ्वी स्वर्ग बन सकती है। वस्तुतः अर्थ ही जो जीवन का ध्येय बन गया है, उसी के कारण मानव अपने उच्चासन से गिर गया है। अर्थ जीवन की एक आवश्यकता है—एक बड़ी आवश्यकता है पर वह जीवन का ध्येय नहीं है। वह जीवन के लिए है पर आज जीवन उसके लिए हो गया है।

इस विषम स्थिति से निकलने के लिए समाजशास्त्री तरह-तरह के हल बताते हैं। कहा जाता है कि बड़े-बड़े उद्योग-धंधों का राष्ट्रीयकरण कर दिया जाय अर्थात् उत्पादन के बड़े-बड़े साधनों पर प्रजा-द्वारा बनी सरकार का क़ब्ज़ा हो ; श्रमिकों के लिए उचित मजदूरी, जीवन-वेतन, विश्राम, शिक्षण, चिकित्सा, आमोद-प्रमोद की व्यवस्था की जाय ; समाज की विभिन्न श्रेणी के कार्यकर्ताओं की आय के बीच बहुत अधिक विषमता न हो ; प्रत्येक बच्चे को, प्रत्येक नागरिक को विकास की समान सुविधाएँ प्राप्त हों। उत्पादन और वितरण के साधनों पर कुछ व्यक्तियों का नहीं, समाज का सामूहिक अधिकार हो।

कोई विवेकवान व्यक्ति इन उपायों का विरोध नहीं कर सकता। इनके उचित रूप में कार्यान्वित किये जाने से निश्चय ही विषमता कम हो सकती है पर इन सब की वास्तविक सफलता उस मनोवृत्ति पर निर्भर करती है जिसके

साथ इन उपायों का आचरण किया जायगा। मनुष्य के जितने कार्य हैं सब उसकी मनोवृत्तियों के प्रतीक वा अभिव्यक्ति मात्र हैं। यदि मानव का मानसिक धरातल ऊँचा न हुआ, यदि उसमें दूसरों के हित की भावना न आई, यदि उसमें स्वार्थ की भावना प्रबल बनी रही तो कोई उपाय कैसा ही अच्छा हो, अन्त में दूसरे दूषणों की सृष्टि करेगा और अपने उद्देश्य की सिद्धि में कभी सफल न हो सकेगा। इसकी सफलता मनुष्य के नैतिक विकास पर निर्भर है। सामाजिक नीति, सामाजिक सदाचरण की दृष्टि जब तक हम में न आयेगी, हमारे दुःख बने रहेंगे। जब व्यक्ति अनुभव करेगा कि उसका दुःख-सुख समाज के सामूहिक दुःख-सुख पर निर्भर है। जब व्यक्ति समझेगा कि वह जो सुख भोगता है उसमें दूसरों की देन है, जो सुविधाएँ वह उठा रहा है वह मानव-जाति के समष्टिगत प्रयत्न तथा पूर्वकाल के व्यक्तियों के श्रम का परिणाम हैं तब वह केवल अपने विषय में न सोचकर दूसरों के विषय में भी विचार करेगा और केवल अपना हित न देखकर दूसरों का हित भी देखेगा—यों भी कह सकते हैं कि तब वह दूसरों के हित में अपना हित देखेगा।

स्वयं जीना मनुष्य का अधिकार है किन्तु दूसरों को जीने देना उसका कर्तव्य है। मनुष्य यह चाहता है कि उसके अधिकारों की रक्षा हो परन्तु सामूहिक अधिकार-रक्षा के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि वह दूसरों के अधिकारों पर कुठाराघात न करे, बल्कि उनकी रक्षा भी करे। समाज में आज जो विषमता है, संसार में आज जो अशान्ति है वह चाहे छोटे क्षेत्र में हो या बड़े क्षेत्र में, गाँव में हो या देश में, सब का कारण मनुष्य की, व्यक्ति, जाति या राष्ट्र के रूप में, अपने कर्तव्य के प्रति उपेक्षा है। हममें से प्रत्येक अधिकार तो चाहता है, अधिकारों की रक्षा तो चाहता है किन्तु कर्तव्यों और जिम्मेदारियों से भागता है, अपने पड़ोसी, अपने समाज, अपने ग्राम, नगर, प्रान्त, देश और संसार के दूसरे राष्ट्रों के अधिकारों की उपेक्षा करता

है। इसीलिए समाज आज इतनी विषम स्थिति में आ पड़ा है।

व्यक्ति की यह अत्यधिक स्वार्थपरता तथा समष्टिहित की प्रति उसकी उदासीनता ही आज की सामाजिक विषमता का मूल कारण है। हमारा सामाजिक जीवन लुप्त हो गया है। हम केवल अपने लिए जीते हैं। व्यक्ति और समष्टि के इस संघर्ष को दूर करना ही समाज की सच्ची सेवा है। दोनों के हितों के समन्वय से ही मानवता की सच्ची उन्नति संभव है। व्यक्ति को अपना जीवन ऊँचे स्तर पर ले जाना होगा। उसे समाज-हित के लिए स्वार्थ-त्याग करना होगा। उधर समाज को व्यक्ति की स्वतंत्रता की रक्षा करते हुए सामूहिक सम्बन्धों में ईमानदारी, प्रेम और सहयोग भाव को अपनाना होगा।

* * *

हमारे देश में तो स्थिति और भी विषम है। हम तो साधारण नागरिक कर्तव्यों को भी भूल गये हैं। अगणित विभेदकारी बन्धनों ने हमें सत्वहीन, निर्जीव, कर रखा है। सारा जीवन व्यक्तिगत समस्याओं और प्रश्नों को निबटाने में ही समाप्त हो जाता है। समाज के प्रति हम अपने कर्तव्यों से सर्वथा उदासीन दिखाई पड़ते हैं। जिस हिन्दू धर्म और भारतीय संस्कृति की रचना ही व्यक्ति और समष्टि के हितों के समन्वय पर हुई थी, जहाँ पहली आधी उम्र में समाज से ग्रहण और दूसरी आधी उम्र में समाजको दान, आत्मार्पण, की व्यवस्था थी तहाँ समस्त जीवन अत्यन्त निजी, स्वार्थपंकिल हो गया है। जहाँ दूसरों के हितों से अपने संकुचित हितों का संघर्ष होता है तहाँ हम साधारण ईमानदारी को भी भूल जाते हैं।

हमें इस हीनावस्था से ऊपर उठना होगा। हमें निजी स्वार्थों पर अंकुश रखना होगा। जब तक हम उस प्राचीन ऋषिवाणी का सन्देश न ग्रहण करेंगे जिसमें कहा गया है—सब सुखी हों, सब निरामय हों, सब श्रेय को देखें तब तक सामाजिक संघर्ष और विषमताएँ बनी रहेंगी।

नागरिक ज्ञान और कर्त्तव्य

किसी देश या राष्ट्र का प्रत्येक व्यक्ति उसका नागरिक है। किसी राज्य के निवासी होने के कारण व्यक्ति को कुछ मौलिक अधिकार प्राप्त होते हैं जिन्हें नागरिक अधिकार कहा जाता है। इनमें धार्मिक स्वतंत्रता, विचार-स्वातंत्र्य तथा अपने निजी मत या विचारों को प्रकट करने की सुविधाएँ मुख्य हैं। इन्हीं के कारण उसे बहुत से राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक सुविधाएँ भी प्राप्त होती हैं। स्वतंत्र राज्य यथासंभव अपने नागरिकों के नागरिक अधिकारों की रक्षा का प्रयत्न करते हैं। और नागरिक अपने राष्ट्र के सामूहिक हित-रक्षण का ध्यान रखते हैं।

पर जैसे प्रत्येक नागरिक के कुछ अधिकार होते हैं वैसे ही उसके कुछ कर्तव्य भी होते हैं। इन कर्त्तव्यों के ज्ञान और पालन पर ही एक समाज का भविष्य निर्भर करता है। वस्तुतः लोकाचरण या लोकनीति को ही आजकल नागरिकशास्त्र कहा जाता है। मनुष्य जिस समाज का सदस्य है उसके प्रति उसकी शुभाकांक्षा अथवा कल्याण-भावना उसके आचरण में किस प्रकार प्रकट होती है या होनी चाहिए, यह नागरिक विद्या के अन्तर्गत आता है। यह समाजशास्त्र की एक शाखा है जो हमें बताती है कि हमें अपने पड़ोसियों के प्रति कैसे भाव रखने चाहिएँ, कैसा आचरण करना चाहिए, हमें अपने सामान्य वासस्थान—नगर, ग्राम आदि—के प्रबन्ध में किस प्रकार भाग लेना चाहिए तथा किस प्रकार उनको शिक्षा, स्वास्थ्य, स्वच्छता, पारस्परिक व्यवहार आदि में एक आदर्श बस्ती का रूप दिया जा सकता है।

हम भारतीयों में नागरिक भावना की बहुत कमी है। हमारी अनेक कठिनाइयों एवं दुर्दशाओं का कारण यही है। किसी गाँव में चले जाइए, गंदग

का राज्य दिखाई देगा। गलियों में कूड़े का ढेर पड़ा है; कहीं मल-मूत्र है, कहीं हड्डियाँ या मांस के टुकड़े पड़े हैं; कहीं पानी बहने से गली में कीचड़ हो रहा है। रास्ते गन्दे हैं; जगह-जगह गड्ढ़े हैं जिनमें पानी सड़ रहा है और मलेरिया के अगणित कीटाणुओं को जन्म दे रहा है। गाय-बैल के बाँधने के स्थान अत्यन्त अस्वच्छ हैं; कुएँ से निकला पानी पास ही सड़ता है और उसमें पत्तियाँ गिरकर सड़ती रहती हैं। जिन तलावों से पानी भरा जाता है, उसी में लोग नहाते हैं, मैले कपड़े साफ़ करते हैं और शौचादि से निवृत्त भी होते हैं। कहीं शौचादि के लिए निश्चित स्थान नहीं हैं, किसी ने वृक्ष के नीचे टट्टी कर दी, किसी ने तालाब के किनारे और किसी ने इतना भी कष्ट न किया, अपने पिछवाड़े ही बैठ गया। बरसात के सुहावने दिनों में तो गाँव नरक ही बन जाता है। गलियों में कीचड़, सर्वत्र मक्खी, मच्छर। जो गाँव किसी दिन भारतीय सभ्यता के दीपक थे; जहाँ स्वास्थ्य हँसता था, पौरुष खेलता था और राष्ट्र का यौवन इठलाता था; जिनकी अमराइयों से प्रेम और आनन्द के गीत उठकर आकाश पर छा जाते थे, वे बीमारी, गरीबी, अकर्मण्यता, आलस्य के गढ़ हो गये हैं; जीवन दुर्वह हो गया है; लोग वहाँ से भागने लगे हैं। जिस गाँव में एक दूसरे के लिए जीता था; प्रत्येक दूसरे की कष्ट की घड़ियों में उसका साथ देने के लिए उठ खड़ा होता था; एक ग्राम के रहने वालों में एक वृहत् कुटुम्ब के कुटुम्बी होने की अनुभूति थी, वहाँ अब सब भाईचारे तथा कर्तव्य-भावना का लोप हो गया है।

नगरों में यद्यपि म्युनिसपलटियाँ हैं या अन्य प्रकार की नगर-प्रबन्ध सभाएँ हैं, जो सड़कों के निर्माण, स्वच्छता, शिक्षा आदि का प्रबन्ध करती हैं; उसके कुछ नियम तथा कानून भी हैं और उन नियमों का उल्लंघन करने वालों को दंड देने का भी विधान है फिर भी स्थिति सन्तोषजनक नहीं है। सड़क की पटरियों को दुकानदार तथा उनके ग्राहक गन्दी कर देते हैं; बड़ी-

बड़ी हवेलियों में रहने वाले मकान का कूड़ा सड़क पर बिखेर देते हैं; कहीं कहीं तो ऊपरी मंजिलों के अधिवासी ऊपर से ही कूड़ा-कचरा सड़क पर फेंक देते हैं और रास्ता चलते हुए मुसाफिरों का भी ख्याल नहीं करते। नालियों में बच्चों को टट्टी बैठा देते हैं। सड़क के किनारे खोनचे वाले बैठते हैं जिनके खोनचे की चीज़ों पर मक्खियां भिनकती हैं; प्रायः नालियों की मक्खियां इन पर बैठ जाती हैं। यद्यपि स्वास्थ्य विभाग को अधिकार होता है कि वे लोगों को सड़ी गली चीजें बेचने से रोकें और आवश्यकता होने पर उन्हें नष्ट करा दें परन्तु बहुत ही कम अवस्थाओं में इनका पालन होता है। इलाहाबाद दिल्ली-जैसे अनेक नगरों में कुँजड़े या दूसरे सौदागर सड़े अखाद्य फलों को बहुत सस्ते दामों में बेंच देते हैं और गरीब लोग उन्हें खाते तथा उसका बुरा फल भोगते हैं। स्वच्छता और स्वास्थ्य के नियमों के सम्बन्ध में जैसा नियंत्रण होना चाहिए नहीं होता। अधिकारियों में स्वयं नागरिकता के भाव की कमी होती है और जनता भी इस कार्य में साथ नहीं देती।

मैंने देखा है, इलाहाबाद के बाहरी मुहल्लों में झाड़ू देने वाले भङ्गी सड़क या गली में पड़े कूड़े-कचरे को इधर उधर हटा देते हैं या किनारे बनी कच्ची नालियों में कर देते हैं। इससे वे चीजें पानी में सड़ती रहती हैं; घरों में मैला ढोने वाले भङ्गी कई बार कूड़ों के ढेर में पाखाना छिपा देते हैं; ढोने की मेहनत से बचने के लिए। कहीं गलियों में टट्टी से भरी बाल्टियां बिना ढके छोड़ देते हैं। मजदूर पेशा लोग रात को इधर उधर, गलियों में, टट्टी कर देते हैं। थूकना तो एक ऐसी बुरी आदत है जो भारत के प्रत्येक भाग में पाई जाती है और पान तम्बाकू खाने वालों ने तो हद कर दिया है। मकान, गली, सड़क सर्वत्र इनकी गन्दी आदत के चिह्न दिखाई पड़ते हैं। रेल तक में बैठना मुश्किल हो जाता है।

जब हम या हमारे बच्चे जरा भी बीमार पड़ते हैं तब हम वैद्य या

डाक्टर के पास दौड़ते हैं; रुपया खर्च करते हैं पर हममें से कितने यह सोचते हैं कि इन बीमारियों को पैदा करने के कारण वे स्वयं उपस्थित करते हैं। मक्खियाँ और मच्छर राष्ट्र के भयानक शत्रु हैं। इनके कारण करोड़ों रुपया नष्ट होता है और हर साल लाखों की जान जाती है; और जितने मरते हैं उनसे कहीं ज्यादा आदमियों के शरीर में रोगों के ऐसे कीटाणु प्रवेश कर जाते हैं जो थोड़ा-थोड़ा करके जीवन का समस्त रस चूस लेते हैं, जो धीरे-धीरे पर निश्चित गति से मृत्यु की ओर उन्हें घसीटते हैं।

प्रभु ने हमें जीवन दिया है; झरने की भाँति स्वच्छ जीवन। प्रकृति ने अपना अपार शुद्ध वायु-भाण्डार हमें सौंप दिया है; वह वायु जिसकी एक घूँट अमृत की तरह हमारे रक्तकोषों को जीवनी-शक्ति से भर देती है। यह श्वास प्रतिक्षण शुद्ध वायु अन्दर पहुँचाता है और अशुद्ध वायु बाहर फेंक देता है। हृदय रात-दिन, उठते-बैठते चलते-फिरते,सोते-जागते,प्रत्येक अवस्था में चल रहा है और रक्त शरीर में कहीं ठहरता नहीं, उसकी नित्य चंचलधारा सदैव गतिमान है। तब भी रोग है, शोक है, कष्ट है, गन्दगी है। क्यों ऐसा है ?

इसीलिए कि हम अपने कर्तव्य को भूल कर क्षुद्र और संकुचित दृष्टिकोण से जीवन को देखते हैं। हम अपने तथा दूसरों के वास्तविक कल्याण की ओर से उदासीन या निष्क्रिय हैं। यदि प्रत्येक नागरिक नगर या गाँव की गलियों के प्रति वही निजत्व की भावना रखे जो वह अपने घर के प्रति रखता है; यदि वह सोचे कि उसका नगर या ग्राम उतना ही स्वच्छ रहना चाहिए जितना उसका घर है तो वह उसे स्वच्छ रखने की चेष्टा करेगा। तब वह कूड़ा नियत स्थान पर डालेगा। तब वह सोचेगा कि उसका स्वास्थ्य और सुख केवल उसके घर की स्वच्छता पर ही नहीं, पास-पड़ोस और सम्पूर्ण नगर या ग्राम की स्वच्छता पर निर्भर है। तब वह समझेगा कि यदि नगर

गन्दा है, तो वह भी शुद्ध वायु नहीं पा सकता; नीरोग नहीं रह सकता। तब उसकी अनुभूति कहेगी कि तुम्हारा जीवन, तुम्हारा स्वास्थ्य दूसरों के जीवन और स्वास्थ्य पर निर्भर करता है और उनसे अभिन्न है।

नागारिकता की भावना वस्तुतः एक कुटुम्ब भाव की अनुभूति के प्रसार की भावना है। अपने पड़ोसियों के जीवन में भाग लेना, अपने तथा अपने साथ उनके जीवन को सुखपूर्ण, स्वस्थ, उन्नत एवं कर्तव्यशील बनाने की चेष्टा करना नागरिकता की प्राण-भावना है। यदि पड़ोसी के घर में आग लग जाय तो मेरा कर्तव्य है कि मैं हर तरह से उसकी सहायता करूँ; यदि हमारा पड़ोसी भूखा है या बीमार है या किसी और कष्ट में है तो उसकी मदद के लिए दौड़ पड़ूँ। यदि मेरे किसी कार्य से नगर या ग्राम की हानि होने की संभावना है तो हमें अपना वह कार्य तुरन्त बन्द कर देना चाहिए या उसे इस ढङ्ग पर करना चाहिए कि हानि न हो। ऐसा नहीं होता, इसीलिए हमारी सामाजिक उन्नति रुकी हुई है। अभी इन्हीं गर्मियों में प्रयाग में हैजा फैल गया। अधिकारियों ने उसकी रोक थाम के लिए नियम बनाया कि तरबूज़ इत्यादि फल कटे हुए न बिकें तथा लस्सी (दही के शर्बत) की दुकानें पतली जाली लगालें जिससे मक्खियों का प्रभाव न पड़े। बर्फ को भी ढक कर रखने की आज्ञा दी गई। बस, फिर क्या था; लस्सी के दुकानदारों ने हड़ताल कर दी। इनमें से बहुतों की आय काफ़ी थी, किसी किसी को १०) से २०) रोज तक की आय थी। ५०)—१००) में जाली बन सकती थी पर इन्हें नगर के स्वास्थ्य की परवा न थी; अपने स्वार्थ पर ज़रा भी अंकुश वे बर्दाश्त न कर सकते थे। वस्तुतः हैजा फैलने पर उन्हें स्वयं ही ऐसा प्रबन्ध करना चाहिए था पर ध्यान दिलाने पर भी उन्होंने असहयोग की, विरोध की चेष्टा की। यही नागरिकता की विरोधी भावना है। हम कमायें, हमारी कमाई पर ज़रा भी आँच न आये, दूसरे चाहे मरें।

पिछले युद्धकाल में हम सभी लोगों ने अनागरिक या लोकनीति-विरुद्ध आचरण के भयंकर दृश्य देखे हैं। अन्न रहते हुए हजारों मर गये, इसलिए कि वे स्वार्थांध विक्रेताओं की मांग पूरी न कर सकते थे ; औषधियाँ रहते कितने मर गये, इसलिए कि ब्लैक मार्केट या चोर बाजार उनका जो दाम चाहता था उसे वे चुका न सकते थे। मैं एक सज्जन को जानता हूँ जिनका प्यारा पुत्र एक ऐंटी-टीटानेस इंजेक्शन के न मिलने से मर गया। इस इंजेक्शन का जो दाम युद्ध के पूर्व था उससे तिगुना दाम देने को वे तैयार थे पर औषधि-विक्रेता इतना स्वार्थान्ध था कि उसने न बेचा। वह जो दाम चाहता था, उसे देना उनके बूते की बात न थी। युद्ध के अन्तिम दिनों में और युद्ध समाप्त हो जाने के बाद भी देश में वस्त्र का जो भयंकर अभाव अनुभव हुआ तथा हो रहा है उसे कौन नहीं जानता? मिलों से निकल कर कपड़े न जाने कहाँ गायब हो जाते हैं। स्पष्ट है कि स्वार्थान्ध अढ़तिये उन्हें चोर बाजार में बेचते हैं। इधर देश के भिन्न भिन्न भागों में कितनी स्त्रियाँ अपनी लज्जा निवारण न कर सकने के कारण आत्महत्या कर रही हैं। यही, अपने लाभ के लिए दूसरों का शोषण, दूसरों की विवशता से लाभ उठा लेने की इच्छा अनागरिक भावना है।

जो आचरण हमारे पड़ोसियों, देशवासियों के हित के सर्वथा विरुद्ध हैं वे सब अनागरिक आचरण हैं। नागरिक का कर्तव्य यह है कि वह दूसरों को जीने में बाधक नहीं, सहायक बने। उसका आचरण लोकहित के अनुकूल होना चाहिए ; उसके अन्दर यह भावना विकसित होनी चाहिए कि हम सब का हित एक है ; हम सब को मिलकर रहना चाहिए। ऋग्वेद में इसी कर्तव्यभावना का उद्बोधन इन शब्दों में किया गया है—

"हे मनुष्यो, आप सब अच्छी तरह मिलकर चलो, आपस में भेद न रखो, एक दूसरे को जानने की चेष्टा करो। जैसे देवगण या सूर्य, अग्नि, वायु आदि

अपना-अपना कर्तव्य पालन करते हैं उसी प्रकार आप भी अपना-अपना कर्तव्य पालन करें। आप सब की एक मंत्रणा (सलाह) हो, एक साथ उठना बैठना हो, हृदय एक हो। मैं सब को एक मंत्र से दीक्षित करता हूँ और एक से प्राकृतिक साधन देता हूँ। आप लोगों का एक संकल्प हो, दिलों में फूट न हो; आप लोगों के सब काम एक साथ अच्छी तरह सम्पन्न हों।"*

मानव-हित, समाज-हित से अपने हित की अभिन्नता का बोध ही सच्ची नागरिक भावना है। विद्वान् श्री श्रीप्रकाश ने ठीक ही लिखा है कि "अधिकार और कर्तव्य ये एक ही वस्तु के दो पहलू हैं। जो पाना किसी व्यक्ति का अधिकार होता है, उसे करना दूसरे का कर्तव्य होता है। जो करना किसी व्यक्ति का कर्तव्य होता है वही पाना दूसरे का अधिकार होता है। समाज में देना पावना हर क्षण लगा रहता है। इस कारण ये दोनों एक-दूसरे से ऐसे सम्बद्ध हैं कि इन्हें पृथक् करके देखना असंभव है।.........हमारी सारी शिक्षा व्यर्थ है; हमारी पाठशालाओं, विद्यालयों आदि पर जो कुछ व्यय किया जा रहा है; हम अक्षर-ज्ञान में जो अपना जीवन व्यतीत कर रहे हैं, वह सब व्यर्थ है, जब तक कि हमें अपने साधारण नागरिक कर्तव्यों और अधिकारों की शिक्षा नहीं दी जाती। शिक्षा का एक मात्र उद्देश्य यही है कि व्यक्ति अपने को अपने लिए, अपने कुटुम्ब के लिए, अपने समाज के लिए यथासंभव उपयोगी बना सके और समाज में अपना उपयुक्त स्थान प्राप्त कर सके। सच्चा नागरिक ही वास्तविक शिक्षा-

---

* संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथापूर्वे संजानाना उपासते॥
समानो मंत्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मंत्रमभिमंत्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि॥
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥

प्राप्त व्यक्ति है ।"

जिस दिन हम अनुभव करेंगे कि हम चाहे जिस स्थिति में हों और चाहे जिस स्थान पर हों, हमारा जीवन एकाकी नहीं है; उसके साथ अनेक जीवन जुड़े हुए हैं; उसके हित के साथ अनेक का हित सम्बद्ध है; उसके दुःख-सुख में दूसरों का दुःख-सुख है; उसकी उन्नति अवनति के साथ दूसरों के उत्थान-पतन की डोर जुड़ी हुई है तब हमारा स्वार्थ संयत और परिष्कृत होगा; तब अपना और पराया अलग होकर भी विरोधी पक्ष न होंगे और दोनों की विभाजक रेखा क्षीण हो जायगी। जब मनुष्य अपने हित और स्वार्थ में लिप्त है तो वह मानसिक दृष्टि एवं सामाजिक उत्थान के क्रम में पशु कोटि का है; जब वह अपने स्वार्थ से दूसरों के स्वार्थ का समन्वय करता है तब मनुष्यता की प्रथम अनुभूति प्राप्त करता है और जब दूसरों के हित में ही अपना हित देखकर स्वार्थ से ऊपर उठता है तब उसमें मानवता की मर्यादा पूर्ण होती है। दूसरों के हित में तत्पर और समाज के सामूहिक कल्याण के लिए कर्तव्योन्मुख मनुष्य ही, वास्तव में, मनुष्य है। उसी का जीवन जीवन है और उसी की शिक्षा सार्थक है। ऐसी नागरिक भावना या लोकनीति के उदय के बिना समाज की प्रगति संभव नहीं है।

———

हमारा देश

हमारा देश भारत, जिसे हिंदुस्तान या इंडिया भी कहते हैं, विश्व के देशों में अत्यन्त महान् है। यह महानता न केवल इसके आकार-प्रकार, विशालता, इसकी महती जन-शक्ति, इसकी प्राकृतिक सम्पत्ति, इसके सौन्दर्य में है बल्कि इसकी सभ्यता की प्राचीनता, इसकी उदार संस्कृति, इसके गंभीर तत्वज्ञान, इसके लम्बे इतिहास के कारण भी है। रूप और हृदय, शरीर और आत्मा दोनों दृष्टियों से हमारा देश ऐसा है जिस पर हम गर्व कर सकते हैं; जिसमें उत्पन्न होने का हमें अभिमान हो सकता है।

पहले इसकी बाह्य महत्ता को लीजिए। हम चालीस करोड़ से कुछ अधिक ही हैं अर्थात् मानव जाति का पंचमांश हम से ही बना है। सरल शब्दों में इसे यों कह लीजिए कि प्रत्येक पाँच मनुष्यों में एक हिन्दुस्तानी है। चीन को छोड़ कर हमारी जन-शक्ति संसार में सब से अधिक है। विशालता की दृष्टि से देखें तो उत्तर से दक्षिण या पूर्व से पश्चिम तक लगभग २००० मील लम्बा-चौड़ा है। इसका क्षेत्रफल लगभग बीस लाख वर्गमील है। अर्थात् रूस को अलग कर दें तो सारे युरोप के बराबर—जर्मनी, युगोस्लेविया, रूमानिया, हँगरी, इटली, फ्रांस, स्वीज़रलैंड, ग्रीस, ग्रेटब्रिटेन, आयरलैंड, हालैंड, बेलजियम, स्पेन, नार्वे, स्वीडेन, पोलैंड, सब इसके पेट में समा सकते हैं। हमारे देश के प्रान्तों की तो बात ही छोड़िए, कितने ही जिले युरोप के राज्यों से बड़े हैं। मद्रास का विज़गापटम जिला डेनमार्क से बड़ा है और युक्तप्रान्त के गोरखपुर या बंगाल के मैमनसिंह जिले में स्वीज़रलैंड से अधिक लोग बसते हैं।

प्राकृतिक सौन्दर्य की दृष्टि से देखिए तो इसके सिर पर तुषारधवल

हिमालय का किरीट है जिसने हमारा हजारों वर्ष का इतिहास देखा है और लाखों वर्ष से हमारे देश का संरक्षक रहा है, जिसे कवि एकबाल ने इन शब्दों में याद किया है—

पर्वत वह सब से ऊँचा हमसाया आसमाँ का,
वह संतरी हमारा, वह पासवाँ हमारा।

कैसा सुन्दर है यह हिमालय। जब इसकी चोटियों पर सूर्य की बाल-किरणें पड़ती हैं तो चतुर्दिक स्वर्णराशि बिखर जाती है। जब चाँदनी आती है तो दूध में चोटियाँ नहा उठती हैं। इतिहासकार एलफिंस्टन के शब्दों में 'इसकी प्राकृतिक छटा एक बार नेत्रों में पैठकर सदैव के लिए अपना अमिट स्मारक छोड़ जाती है।' इसी प्रकार दक्षिण में पूर्वी और पश्चिमी तटों पर पहाड़ों की एक शृंखला है; मध्य में विंध्य, सतपुड़ा और अरावली की पहाड़ियाँ मेखला की भाँति फैली हुई हैं। इन पहाड़ों से निकलकर गंगा, यमुना, सिंध, कृष्णा, कावेरी, महानदी इत्यादि अनेक नदियाँ मैदानों को सींचती और हमारे देश को उपजाऊ बनाती हैं। गंगा यमुना, सिंध का हमारे इतिहास के निर्माण, हमारे धार्मिक जीवन की रचना, और हमारी सभ्यता के विकास में बहुत बड़ा हाथ रहा है। इन पहाड़ों और नदियों के किनारे प्राचीन काल में अनेक ऋषियों, ज्ञानियों के आश्रम थे जहाँ हमारे बच्चे स्वास्थ्य के साथ-साथ ज्ञान का अमृत पीते थे; इनमें हमारे अनेक तीर्थ हैं जहाँ की यात्रा कर हम प्राकृतिक दृश्यों का आनन्द लूटते थे और मानस को उच्च स्तर पर ले जाते थे।

इन पहाड़ों और नदियों का हमारे देश पर बड़ा प्रभाव पड़ा है। इन्होंने हमारी सभ्यता की यात्रा में जो कार्य किया है उसका वर्णन तो हम ऊपर कर ही चुके हैं। पर इनके अतिरिक्त जलवायु, पृथ्वी की बनावट, उपज तथा हमारी प्रकृति पर भी इनका अत्यधिक प्रभाव पड़ा है। केवल हिमालय ही

हमारे देश के निर्माण, रक्षण और पालन में इतना भाग लेता है कि हम उसके ऋण से कभी मुक्त नहीं हो सकते। मध्य एशिया की रेगिस्तानी आँधियों को इसने धमका कर सदा के लिए इधर आने से रोक दिया है। यदि हिमालय बीच में पड़कर हमारी रक्षा न करता तो जहाँ आज उत्तर भारत में शस्यश्यामल भूमि फैली हुई है तहाँ रेगिस्तान होता। इसके कारण ही इन भागों में अच्छी वर्षा होती है। तथा इसकी कृपाधारा सरिताओं के निर्मल जल के रूप में हमारी भूमि को सींचती और उर्वर करती है।

भारत इतना महान् और विचित्र देश है कि इसमें एक साथ अनेक ऋतुओं का आनन्द लिया जा सकता है। यहाँ अनेक प्रकार की जलवायु मिलती है। जिस समय सिंध के जैकोबाबाद में १२० से १२५ अंश तापमान में लोग झुलस रहे होते हैं और जिन दिनों काशी, प्रयाग, दिल्ली और मुलतान के लोग गर्म लू के डर से घरों से निकलने में डरते हैं उन दिनों कश्मीर, मसूरी, दार्जिलिङ्ग, शिलांग, महाबलेश्वर, उटकमंड और शिमला में हल्की सर्दी पड़ती है, और बड़े चैन से गुज़रती है। जिस समय उत्तर भारत में भयंकर ठण्ड से दाँत कटकटाते हैं उस समय दक्षिण भारत के बँगलौर, हैद्राबाद इत्यादि स्थानों में ठंड का कोई पता नहीं होता। जिस समय चेरापूँजी (आसाम) में मूसलाधार वर्षा से लोग मस्त होते हैं तब राजपूताने के पश्चिमी उत्तरी भागों तथा सिंध की भूमि अपनी चिरन्तन प्यास के साथ सूखी हँसी से आपका स्वागत करती है। मलाबार में जल और हरियाली है तो राजस्थान में बालू के स्वच्छ मैदानों पर फैली चाँदनी की शोभा है। कहीं जमीन खोदते ही पानी निकल आता है, इतने निकट कि मकान की गहरी नींव देना भी कठिन होता है और कहीं सैकड़ों फुट नीचे पानी निकलता है। इसी प्रकार इस देश में अत्यन्त सभ्य लोगों से लेकर मनुष्य का शिकार करनेवाली जंगली जातियाँ तक मिलती हैं। मांसाहार

करनेवालों से लेकर चींटी तक को बचाकर मार्ग चलनेवाले मिलते हैं। इसके निवासियों में शुभ्र और गौरवर्ण से लेकर अफ्रीका के हबशियों के समान काले-कलूटे मिलेंगे। यहाँ सैकड़ों जातियाँ, सैकड़ों प्रकार के रहन-सहन, खान पान, धार्मिक विश्वास, अनेकविध जलवायु, विविध प्रकार की उपज, विविध प्रकार के आदमी मिलते हैं। इस दृष्टि से यह देश अद्भुत है।

प्रकृति ने न केवल हमें विस्तृत उपजाऊ भूमिखण्ड तथा विशाल अन्न-भाण्डार दिया है बल्कि कोयला, लोहा, सोना, मेंगनीज़, अभ्रक, चूना इत्यादि की अनन्तराशि भी हमें सौंपी है जिसके कारण सचमुच यहाँ की भूमि का रत्नगर्भा नाम सार्थक है। अपार जलशक्ति में तो संसार के दो—एक देश ही हमारे आगे जा सकते हैं। ऐसी विशालता, ऐसी उपजाऊ भूमि, ऐसी जल-वायु, ऐसा शक्ति-भण्डार संसार के किसी देश के पास नहीं है। तभी तो जर्मन पर्यटक फ्रेंज आस्ट्रिजर कहता है—"हिमालय के तुषारमंडित स्वर्ण-शिखर से कल्लोल कर बहनेवाली गङ्गा और यमुना, भारतीयों को अमर सङ्गीत सुनाती हुई उसकी शस्य-सम्पन्न भूमि को स्वर्गोपम बना रही हैं; सीमाओं पर लहराने वाले समुद्र उसके गौरव-गीत गा रहे हैं। शरद्, ग्रीष्म और गुलाबी जाड़े के मनोहर रंगीन दिवस और कल्पना को जाग्रत करने वाली रातें संसार में अन्यत्र कहाँ सुलभ हैं?" इतिहासकार टामस मारिस लिखता है—"एक ही समय में दो ऋतुओं के आविर्भाव की विलक्षणता, वनों का सौरभ, सुस्वादु फल, सुन्दर जलवायु वाली भूमि का विशाल कोश, शिल्पनिर्मित वस्तुओं के विभिन्न नमूने भारत को अत्यन्त प्राचीन काल से ही उपलब्ध हैं।......।" मरे कहता है—"वसुन्धरा के पृष्ठ-तल पर भारत एक अनूठा देश है।"

निस्सन्देह भारत—हमारा देश—प्रत्येक बात में ऐसा है जिस पर हम उचित रूप से गर्व कर सकते हैं पर क्या हम भी ऐसे हैं जिन पर हमारा देश

गर्व कर सकता है ?

इतनी महती जनशक्ति के साथ भी हम शक्तिहीन बने हुए हैं; इतनी उपजाऊ भूमि के रहते हमें पेट भर अन्न नहीं मिलता;रुई की उपज तथा वस्त्र-निर्माण की असीम संभावनाओं के होते हुए भी हममें से कोटि-कोटि अर्धनग्न जीवन व्यतीत करते हैं; हममें अशिक्षा का राज्य है; हमारा किसान जानतोड़ श्रम करके भी नंगा, भूखा, दरिद्र और अपाहिज बना हुआ है। हमारे जीवन में उत्साह, स्फूर्ति, सूझ, संघटन, व्यवस्था का एकान्त अभाव है। हमारे कच्चे माल से विदेशी उद्योगपति पक्का माल बनाते हैं और कई गुने दामों में हमारे हाथ बेचते हैं। कृषि की अवस्था दयनीय है; जहाँ बीस मन अन्न होना चाहिए, खाद, गहरी जुताई इत्यादि के अभाव में चार मन होता है; पशुओं को भर पेट और पौष्टिक चारा नहीं मिलता; छोटी-छोटी चीजों के लिए हम विदेशों पर निर्भर करते हैं। जो भारत एक दिन परम सम्पन्न था वहाँ की कोटि-कोटि जनता आज भूखी, नंगी, पददलित है—ऐसी जिसमें जीवन-शक्ति समाप्त हो गई है। ऐसे हम हो गये हैं। तब क्या हमारा देश भी हम पर अभिमान कर सकता है ?

इस देश की सभ्यता, तत्वज्ञान तथा सौन्दर्य के कारण विदेशी सदैव से इस पर मुग्ध रहे हैं। इलियट ने अपने 'भारत का इतिहास' (हिस्ट्री ऑव् इंडिया) में चौदहवीं सदी के इतिहासकार अब्दुल्ला वस्सफ का वक्तव्य उद्धृत किया है—"समस्त लेखकों के कथनानुसार भारत पृथ्वी का एक अत्यन्त मनोरम और भूतल पर एक रमणीयतम स्थान है। इसके रजकण वायु से विशुद्ध और वायु स्वयं पवित्रता से भी अधिक पुनीत है। इसके चित्ताकर्षक मैदान स्वर्ग की समता करते हैं।" मैक्समूलर ने लिखा है—"अगर मुझसे प्रकृतिप्रदत्त संपत्ति-शक्ति और सौन्दर्य में सर्वोत्कृष्ट देश या भूमंडल पर स्वर्ग खोजने के लिए कहा जाय तो मैं भारत की ओर संकेत करूँगा।" वह आगे

फिर कहते हैं—"यदि कोई मुझसे यह बात पूछे कि वह देश कौन और कहाँ है जहाँ मनुष्यों ने इतनी मानसिक उन्नति की है कि वे उत्तमोत्तम गुणों की वृद्धि कर सकते हों; जहाँ मनुष्य-सम्बन्धी गूढ़ तत्वों पर विचार किया गया हो और जहाँ उनके हल करने वाले पैदा हुए हों तो मैं उत्तर दूँगा कि वह देश भारतवर्ष है।"

पर आज न भौतिक समृद्धि में और न ज्ञान के क्षेत्र में हमारा कोई महत्वपूर्ण स्थान है। जिसके आँगन में मानवता खेली, जहाँ उसने संस्कार प्राप्त किया, जहाँ प्रथम ज्ञानोदय हुआ, जिसने पहली बार एक सुन्दर समाज-व्यवस्था को जन्म दिया, जहाँ का प्रकाश पाकर दुनिया प्रकाशित हुई, उसी देश के हम नंगे, भूखे, निरक्षर, परमुखापेक्षी अधिवासी हैं। हमने अपने पूर्वजों के गौरव को हास्यास्पद बनाया; हमने एक महती सम्पदा प्राप्त करके भी उसे नष्ट कर दिया—उसका उपयोग न जाना। हमने दुनिया में अपनी और अपने देश की उपेक्षा देखी और सुनी। क्या देश को हम पर अभिमान होगा?

देवता भी इस भूमि के लिए तरसते थे*—वे भी इसका गौरव-गान करते थे, और आज हम हैं कि अपना सिर ऊँचा करके दुनिया की ओर देख नहीं सकते। क्या यह अपमान हम अनुभव करते हैं? हम में से प्रत्येक यदि अपने पूर्व गौरव का योग्य अधिकारी बनने का प्रयत्न आज ही आरम्भ कर दे; यदि हम में से प्रत्येक जिस क्षेत्र में हम हों वहाँ की स्थिति अधिक अच्छी करने में जी-जान से लग जायँ तो निश्चित है कि हम इस देश की महत्ता के अनुरूप अपने को बना सकते हैं। यदि हम मिलकर, विवेकपूर्वक प्रयत्न करें तो

---

*गायन्ति देवाः किल गीतकानि, धन्यास्तु ये भारतभूमि भागे।
स्वर्गापवर्गस्य च हेतुभूते, भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्॥

—विष्णु पुराण

हमारे ग्रामीण भाइयों और कृषकों की अवस्था सुधर सकती है ; हमारी भूमि तिगुना अन्न हमें दे सकती है ; हमारे कारखाने तथा कर्घे हमारा नंगापन दूर कर सकते हैं ; हजारों नये उद्योग-धन्धे पनप सकते हैं ; सामाजिक कुरीतियाँ हमारी विद्रोहाग्नि में भस्म हो सकती हैं, और बीस वर्ष में देश को साक्षर बना सकते हैं। हमारा अतीत, हमारा पूर्व गौरव, हमारा महादेश तथा उसकी महती संभावनाएँ एवं सम्पदाएँ हमारे पौरुष और हमारी कर्तव्य-भावना को चुनौती दे रही हैं। इस भूमि की आत्मा हमें पुकार रही है। हमें प्रतिज्ञा करनी होगी कि हम इसकी महान् परम्परा को क़ायम रखेंगे और अपने को उसके गौरव के अनुकूल बनायेंगे। संसार हमारी वाणी सुनेगा और सुनकर उसपर विचार करने को बाध्य होगा।

तुमने और हमने रवीन्द्रनाथ का एक गान अनेक बार गाया है। गाया न होगा, तो सुना होगा। आओ, आज पुनः एक बार उसे दोहरायें और उसमें हमारे देश के गौरव की जो ज्योति है उसे धारण करने योग्य बनें—

जन गणमन—अधिनायक जय हे भारत-भाग्य विधाता।
पंजाब सिंध गुजरात मराठा द्राविड़ उत्कल वंग,
विंध्य हिमाचल जमुना गंगा उच्छल-जलधि तरंग,

तव शुभ नामे जागे,
तव शुभ आशिष माँगे,
गाहे तव जय गाथा।

जनगण मंगलदायक जय हे भारत-भाग्य विधाता।
जय हे, जय हे, जय हे, जय, जय, जय, जय, हे।
अहरह तव आह्वान प्रचारित सुनि तव उदार वाणी,
हिंदु बौध सिख जैन पारसिक मुसलमान खृस्तानी।

पूरब पश्चिम आसे,
तव सिंहासन पासे,
प्रेमहार होय गाँथा।
जनगण ऐक्य विधायक जय हे भारत भाग्य विधाता। जय हे, जय हे०
पतन अभ्युदय बंधुर पंथा, जुग-जुग—धावित यात्री,
तुमि चिर सारथि तव रथ चक्रे मुखरित पथ दिन रात्री,
दरुण विप्लव माझे
तव शंखध्वनि बाजे
संकट दुःखत्राता।
जनगण-पथपरिचायक जय हे भारत-भाग्यविधाता। जय हे, जय हे०
घोर तिमिरघन निविड़ निशीथे पीड़ित मूर्छित देशे,
जाग्रत छिलो तव अविचल मङ्गल नतनयने अनिमेषे,
दुःस्वप्ने, आतंके
रक्षा करिले अंके
स्नेहमयी तुमि माता।
जनगण-दुःखत्रायक जय हे भारत-भाग्यविधाता। जय हे, जय हे०
रात्रि प्रभातिल उदिल रविच्छवि पूर्व उदयगिरि भाले,
गाहे विहंगम, पुण्य समीरण नवजीवन रस ढाले,
तव करुणारुण रागे
निद्रित भारत जागे
तव चरणे नत माथा।
जय जय जय हे जय राजेश्वर भारत-भाग्यविधाता। जय हे, जय हे०

————

भारतीय संस्कृति की मूल धारा

संस्कृति किसी देश या जाति की आत्मा है। इससे उसके उन सब संस्कारों का बोध होता है जिनके सहारे वह अपने सामूहिक या सामाजिक जीवन के आदर्शों का निर्माण करता है। यह विशिष्ट मानव समूह के उन उदात्त गुणों को सूचित करती है जो मानव जाति में सर्वत्र पाये जाने पर भी उस समूह की विशिष्टता प्रकट करते हैं और जिन पर जीवन में अधिक जोर दिया जाता है।

अपने दीर्घ अनुभव, तपःपूत ज्ञान और चिन्तन-द्वारा भारत के आत्मदर्शी ऋषि इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि आत्मानुभव, आत्मसाक्षात्कार, आत्मदर्शन ही मानवजीवन का परम पुरुषार्थ है। जीवन और जगत् में दो प्रकार के तत्व हैं, एक वह जो नित्य परिवर्तनशील है, जो प्रतिक्षण बदल रहा है; दूसरा वह जो इस परिवर्तन के मूल में है, अव्यक्त है पर उसी के कारण और उसी लेकर जगत् की सम्पूर्ण दृश्य वस्तुओं, सम्पूर्ण व्यक्त पदार्थों का अस्तित्व है। जगत् के पीछे जो यह महती अव्यक्त शक्ति है उसका उद्घाटन करने और उसे अनुभव तथा धारण करने से यह ऊपर से असहाय, दुर्बल, अशक्त दिखने वाला मानवजीवन असीम कल्याणकारी शक्तियों से पूर्ण हो सकता है। हमारे पीछे शक्ति का जो अमित कोष छिपा हुआ है उसकी खोज और सिद्धि से ही मानव-जीवन का आदर्श पूर्ण हो सकता है। भारतीय सामाजिक जीवन की विविध श्रेणियाँ अपनी शक्ति और मर्यादा के अनुसार इसी दिशा में, इसी गन्तव्य स्थल की ओर परिचालित की गई थीं।

दृष्टिदोष के कारण अथवा इस संस्कृति के मूल अनुबन्ध को न समझ सकने के कारण अनेक छिद्रान्वेषी आलोचक यह आक्षेप करते हैं कि भारतीय

संस्कृति स्वप्नों और कल्पनाओं की अस्थिर भूमि पर खड़ी है और जगत् की दृढ़ भूमि से उसका सम्बन्ध ही मिट गया है। यह सर्वथा मिथ्या धारणा है। भारतीय संस्कृति खड़ी तो इसी भूमि पर है परन्तु उसका सिर आकाश की ओर उठा हुआ है। मानव चलता जमीन पर है पर देखता सामने या ऊपर है। भारतीय संस्कृति भी जीवन के अन्तरिक्ष को भेद कर उसके अनन्त रहस्यों को जानने के लिए विकल हुई थी। यह शुद्ध वैज्ञानिक वृत्ति थी। उसने अध्यात्मविद्या में जो उन्नति की थी उसमें पदार्थविद्या की उपेक्षा न थी बल्कि उसकी मूल प्रकृति को जानने के लिए यह आवश्यक था। उसने पदार्थविद्या, शासन-व्यवस्था, समाज-व्यवस्था, अर्थविद्या, शरीरशास्त्र, चिकित्साशास्त्र, वास्तुकला, युद्धविद्या, जननविज्ञान, इत्यादि भौतिक विद्याओं के क्षेत्र में कुछ कम प्रगति न की थी। वह वायु-विज्ञान की सहायता से समय और दूरी के व्यवधान पर विजय प्राप्त कर सकी थी; वह सूर्यविज्ञान के द्वारा वस्तुओं के रूप को तुरन्त बदल देने, एक जाति के पदार्थ को दूसरी जाति में बदल देने, लोहे को सोना करने और मृत्यु पर भी एक सीमा तक विजय प्राप्त करने में समर्थ हुई थी; उसकी समाज-व्यवस्था में व्यक्ति के विकास की सम्पूर्ण सुविधाओं के होते हुए भी समाज या समूह के अन्तिम हित की भावना प्रधान थी; उसकी अर्थविद्या समाज के शोषण का कारण न बनकर उसके संरक्षण और संवर्द्धन का साधन बन सकी थी—धन ने जीवन पर प्रभुत्व न प्राप्त किया था। हठयोगियों ने शरीर की अनेक ऐसी शक्तियों एवं शक्ति-संस्थानों का पता लगाया था जिसका पता आधुनिक शरीरशास्त्रियों को अब तक नहीं लग सका है अथवा लगने पर भी वे उसका उपयोग नहीं जान पाये हैं। जीवन का कोई ऐसा क्षेत्र नहीं था जो उसने अछूता छोड़ा हो। हाँ, एक बात अवश्य थी। इन सब शास्त्रों अथवा विज्ञानों के मूल में ही उसी परम पुरुषार्थ या आदर्श की प्रेरणा थी। सब विद्याएँ

उसी ओर प्रधावित थीं। सबका आधार वही था। जीवन का यह आध्यात्मिक आधार ही भारतीय संस्कृति की विशेषता थी।

मानव समाज में दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं। एक को हम केन्द्रोन्मुखी ('सेंट्रीपेटल') प्रवृत्ति कहते हैं, और दूसरी को केन्द्रप्रसारी या वृत्तोन्मुखी। पहली परिधि से एक केन्द्र-बिन्दु की ओर जाती है; वह कहीं रहे केन्द्र के साथ वह बँधी है; केन्द्र में ध्यानस्थ है; दूसरी वह जो केन्द्र से परिधि की ओर जाती है। भारतीय संस्कृति अपने मूल रूप में केन्द्रोन्मुखी रही है। वह जगत् में रहकर भी आदर्शोन्मुख है। वह बाहर रहकर भी अन्तःस्थ, आत्मस्थ है। इसके विरुद्ध यूनानी अथवा उसकी सन्तति युरोपीय वा पाश्चात्य संस्कृति बाह्यप्रसारी है; वह बाहर की ओर जाती है; केन्द्र से दूर फैलने की ओर उसकी प्रवृत्ति है।

इन दो भिन्न प्रवृत्तियों से दो सभ्यताओं का जन्म हुआ है। जब प्रवृत्तियाँ मूलतः भिन्न थीं तो उनकी साधना के रूपों में भी भिन्नता आई। भारतीय संस्कृति आचरणप्रधान हुई; उसमें अन्तःवृत्तियों के उत्कर्ष पर जोर दिया गया; उसमें समाज की प्रत्येक इकाई या घटक से आत्म-शुद्धि की आशा पहले की गई; उसमें व्यक्ति के जीवन को त्याग की ओर बढ़ाया गया। क्योंकि त्याग और आत्म-नियन्त्रण, आत्मशुद्धि के बिना समाज के घटकों में सच्चे सामाजिक कल्याण की भावना तथा तदनुकूल आचरण का होना कठिन है।

इसके विरुद्ध ग्रीक या युरोपीय संस्कृति मनुष्य के सामूहिक सुधार पर अधिक जोर देती है। समाज-सेवा उसका मुख्य उद्देश्य है। पर आत्मशुद्धि के मुख्य दृष्टि-बिन्दु पर जोर देने के कारण वहाँ व्यक्तिगत और सामाजिक आचरण वा नीति में बहुत बड़ा अन्तर आ गया। और धीरे-धीरे संस्कृति विकृत होकर नष्ट हो गई। जब व्यक्ति अपने सुधार, अपने दोष-निवारण की ओर से आँख मूँद लेता है, अथवा अपनी चरित्रगत दुर्बलताओं की ओर

से उदासीन हो समाज के उद्धार का प्रयत्न करता है तब सभ्यता का भ्रष्ट और विकृत होना स्वाभाविक है। इसके विरुद्ध जब समाज का प्रत्येक घटक आत्मशुद्धि पर ध्यान देता है, स्वार्थवृत्ति पर नियन्त्रण रखता है तब सम्पूर्ण समाज अपने आप निर्मल हो जाता है। लड़कपन में मैंने बीरबल की बुद्धि के चमत्कार के सम्बन्ध में अनेक कहानियाँ सुनी थीं। इन्हीं में एक कथा में कहा गया था कि एक बार बीरबल की सलाह से अकबर ने नगर के किनारे पर तालाब खुदवाया और प्रत्येक को आज्ञा दी गई कि रात को एक-एक घड़ा दूध उसमें छोड़ दे। योजना यह थी कि एक दूध का तालाब दूसरे दिन तैयार हो जायगा। पर दूसरे दिन सुबह जब अकबर बीरबल के साथ यहाँ पहुँचे तो देखा कि तालाब जल से पूर्ण है और दूध का नाम नहीं। बात यह थी कि प्रत्येक ने सोचा कि सब तो दूध डालेंगे, यदि मैं एक घड़ा पानी डाल दूँगा तो उतने दूध में क्या पता चलेगा। जहाँ व्यक्ति अपनी ओर, अपने कर्त्तव्य की ओर नहीं देखता तहाँ यही स्थिति होती है।

हमारी समाज—व्यवस्था में श्रमिक के लेकर ज्ञानदाता तक (शास्त्र की शब्दावली में शूद्र से ब्राह्मण तक) सबकी उपयोगिता थी; सबको उचित स्थान मिला था। पर क्षत्रिय और वैश्य वर्ग (अर्थात् शासन एवं धनसत्ता) मिलकर भी ज्ञानदाता को उसके सर्वोच्च स्थान से नीचे न गिरा सके थे। जिस वर्ग में त्याग की जितनी ही क्षमता थी उसे समाज में उतना ही ऊँचा स्थान मिला था; उसके शब्द, उसके आदेश उतने ही मान्य थे। समाज-नीति का नियंत्रण राजा के हाथ में न था बल्कि उन महात्माओं के हाथ में था जो अपने सुखोपभोग की समग्र वाह्य सामग्रियों एवं सुविधाओं का त्याग करके केवल आत्मचिन्तन तथा अपने अनुभव एवं ज्ञान से समाज के कल्याण के लिए जीते थे। जो समाज से कम से कम लेते थे और अधिक से अधिक देते थे; जिनको स्वयं किसी वाह्य सुविधा या अधिकार

की आवश्यकता न थी। शासन शक्ति के लिए भी उनके पथ-प्रदर्शन की अवहेलना संभव न थी। यही आत्मबल की प्रतिष्ठा, संसार की सम्पूर्ण शक्तियों वा शक्ति-केन्द्रों के भी ऊपर साधुत्व, त्याग, तप की प्रतिष्ठा भारतीय संस्कृति की मुख्य विशेषता रही है। समाज जीवन के आदर्शों और उच्च प्रेरणाओं के लिए ऋषियों और तपस्वियों की ओर देखता था। त्याग न कि भोग, जीवन का आदर्श था।

तब क्या हमारी संस्कृति व्यष्टिधर्मी थी? क्या उसमें समाज-धर्म के प्रति उदासीनता का भाव था? नहीं। इस विषय में भी वह मानव प्रकृति में निहित सत्यों के मूल में प्रविष्ट हुई थी। समाज का मूल मनुष्य का 'स्व' है। यह अहंता का भाव ही जीवन तथा उसकी समस्त प्रेरणाओं का आधार है। मनुष्य जो कुछ करता है अपने इस 'स्व' को लेकर ही करता है। जगत् के सारे सम्बन्ध आत्म रूप को लेकर हैं। 'स्व' में मनुष्य का जो प्रेम है उसी से वह टिका हुआ है। इसलिए 'स्व' का विरोध नहीं बल्कि उसका अनुभव एवं संस्कार ही समाज के हित की दृष्टि से वाञ्छनीय है। सामाजिक कल्याण या परम पुरुषार्थ के लिए इस 'स्व' का संस्कार करके इसे उच्च मनोभूमिकाओं पर स्थापित करने की आवश्यकता पड़ती है। इसके लिए क्षुद्र 'स्व' और महत् 'स्व' को एकत्र करना पड़ता है। क्षुद्र 'स्व' महत् 'स्व' का विरोधी नहीं, बीज रूप है। जैसे ज़रा से बीज में सम्पूर्ण वृक्ष समाया हुआ है वैसे ही क्षुद्र या व्यक्ति के 'स्व' में महत् 'स्व' घनीभूत एवं अन्तर्हित है। ज्यों-ज्यों क्षुद्र 'स्व' का शोधन एवं संस्कार होता है उसमें महत् 'स्व' की अनुभूति बढ़ती जाती है, आदमी स्वार्थ से ऊँचा उठता है और अन्त में यह क्षुद्र 'स्व' विराट् 'स्व' में बदल जाता है। तब प्राणिमात्र मे अभिन्नता एवं परम ऐक्य की अनुभूति होती है। इस प्रकार विश्वप्रेम की सिद्धि होती है। इस आध्यात्मिक भावना द्वारा समाज की विभिन्न श्रेणियों में सामञ्जस्य स्थापित किया गया था और व्यक्ति तथा

समाज की तात्विक अभिन्नता का अनुभव किया गया था।

विद्या, धन और शक्ति की आवश्यकता की अवज्ञा हमारे यहाँ कभी न की गई। इनकी आवश्यकता औसत दर्जे के प्रत्येक व्यक्ति, वर्ग या समाज को है पर इनका उपयोग मनुष्य किस प्रकार करता है इसे देखकर ही उसकी संस्कृति का अनुमान किया जाता है। रावण परम विद्वान् था; शक्तिमान भी था; उसने विद्या और शक्ति का दुरुपयोग किया इसलिए राक्षस कहलाया। जब मनुष्य धन से पर-पीड़न करता है तो कोई भी उसे उच्च संस्कृति का नहीं कहता। आज संसार में विद्या की कमी नहीं; शक्ति की कमी नहीं, धन की कमी नहीं बल्कि पूर्व काल से इनमें कहीं अधिक वृद्धि हो गई है। तब भी इनके द्वारा मानव जाति और मानव-शक्तियों का भयंकर विनाश हो रहा है। पश्चिम के बड़े-बड़े वैज्ञानिक अत्यन्त भयंकर आविष्कारों के द्वारा मानव जाति के भविष्य को खतरे में डाल रहे हैं। यह विद्या का व्यभिचार है। इसे संस्कृति नहीं कह सकते। भारतवर्ष में इन साधनों पर साधुत्व का आत्मबल का नियंत्रण सिद्ध करता है कि हमारी संस्कृति न केवल श्रेष्ठ थी बल्कि व्यावहारिक दृष्टि से भी उसने श्रेष्ठ उदाहरणों एवं प्रतीकों को जन्म दिया था। विद्या-धन और शक्ति के उचित उपयोग के लिए ही हमारे यहाँ उसे आध्यात्मिक आधार पर प्रतिष्ठित किया गया था।

यह इसी आध्यात्मिक अधिष्ठान का परिणाम है कि मैक्समूलर के शब्दों में "प्राचीन वंश विनष्ट हुए, परिवारों का ह्रास हुआ, नये साम्राज्यों की नींवें पड़ी किन्तु इन आक्रमणों और हलचलों से हिन्दुओं के आन्तरिक जीवन में परिवर्तन नहीं हुआ।" युग बीतते गये हैं, क्रान्तियाँ और खंड क्रान्तियाँ हुई हैं; अनेक जातियाँ बाहर से आई हैं किन्तु भारतीय संस्कृति की मूल धारा आज तक वही है; आत्मशुद्धि, त्याग, तप के जीवन द्वारा सच्ची सामाजिक सभ्यता की सिद्धि।

हमारे धर्म में, हमारी समाज-व्यवस्था में, हमारे शिक्षाक्रम में, हमारे चिकित्साशास्त्र में, हमारे साहित्य और हमारी कला में जीवन की इसी उदात्त कल्पना और संस्कृति की धारा है—अंधकार से उठकर प्रकाश, असत्य से सत्य और मृत्यु से अमरत्व के स्रोत की ओर यात्रा करने की वृत्ति। जीवन की सार्थकता त्याग में, आत्मार्पण में, अपने को देने में है—यही सन्देश हमारी संस्कृति का सन्देश है।

क्या इसका अर्थ निष्क्रियता है? क्या इसका अर्थ जीवन की प्रेरणाओं की उपेक्षा है? क्या इसका अर्थ अकर्मण्यता है? हमारे जीवन में आज निष्क्रियता और अकर्मण्यता आ गई है; हम जीवन की महती प्रेरणाओं से दूर हो गये हैं। पर इसका कारण यह है कि हम आत्मविस्मृत, बेसुध, अपनी संस्कृति के आदर्शों की ओर से आँखें मूँद बैठे हैं। अन्यथा उत्तरोत्तर जीवन के शोध में आत्मार्पण, जीवन पर परम नियंत्रण की स्थापना, मृत्यु पर विजय, स्वार्थ पर लोककल्याण के आदर्श की प्रतिष्ठा, यही तो हमारी संस्कृति है। पहले अपने को निर्मल करो, फिर निर्मल अन्तःकरण को जगत् के हित में लगाओ—आत्मानुभव और आत्मदर्शन में लगाओ, यही हमारी संस्कृति की अमृत वाणी है। यही वाणी जो शताब्दियों से मानवता के हृदय को पुकार रही है—"सब सुखी हों, सब निरामय हों, सब श्रेय को देखें!"

भारतीय संस्कृति के कुछ प्रतीक

१. राम

राम भारतीय संस्कृति की सामाजिक विशिष्टताओं के प्रतीक हैं। उनके जीवन में हमारी सामाजिक मर्यादाएँ और आदर्श अभिव्यक्त हैं। भारतीय संस्कृति में भोग की अपेक्षा त्याग को अधिक महत्व दिया गया। इसीलिए उच्च स्तर पर खड़े लोगों का जीवन आत्मार्पण की भावना पर निर्मित है। सामाजिक पक्ष में इसी भावना ने अधिकार की जगह कर्तव्य को अधिक महत्व दिया। मानव जीवन अपने और अपने समाज के प्रति कर्तव्यों अतः आत्मदान से पूर्ण है। राम इस त्यागपूर्ण कर्तव्य-भावना के श्रेष्ठतम प्रतीक हैं। राम का जीवन अपने लिए नहीं है; वह एक आदर्श से प्रेरित जीवन है; वह कर्तव्य के लिए अर्पित जीवन है। वह व्यक्तिगत सुख-स्वार्थ पर लोकहित की प्रधानता का जीवन है।

भारत के एक उच्च राजवंश में उनका जन्म हुआ—एक ऐसे वंश में जिसने हिन्दू सभ्यता को अनेकानेक महापुरुष दिये हैं और जिसके गौरव की कथाओं से हमारे प्रागैतिहासिक युग के इतिहास को प्रकाश और बल मिला है। शरीर-सम्पत्ति और प्रतिभा दोनों के अलोक से उनका शैशव आलोकित है। बचपन से उन्हें हम शीलवान पाते हैं; विद्योपार्जन में केवल सैद्धान्तिक ज्ञान नहीं वरं जीवन, उसके कर्तव्यों और आदर्शों की विकासमान अनुभूतियाँ खिलती हैं। छोटों पर ममता एवं स्नेह तथा बड़ों के प्रति भक्ति और सम्मान से उनका हृदय पूर्ण है। माता और पिता दोनों की अक्षय स्नेह-धारा से स्निग्ध एवं मृदुल हृदय उनको मिला है। पर कहीं भी उनमें अनावश्यक

चंचलता नहीं है; सर्वत्र वह अपने शील और चरित्र की गंभीरता के साथ हैं।

यह माता पिता का प्रेम, यह श्रेष्ठ वंश-विभूति, एक महान् राज्य का भावी अधिकार, अनुगत बंधु, गुरुजनों का आशीर्वाद, असीम पौरुष और बल सब मिलकर कहीं उनमें अहंकार की सृष्टि नहीं कर पाते हैं, कहीं ये विभूतियाँ उनको कर्तव्य से शिथिल नहीं कर पाती हैं। माता के आँसू और पिता का प्राणत्याग उनके कर्तव्य-मार्ग के कुछ पदचिह्न हैं। प्राणप्रिया पत्नी का त्याग उनकी कठोर कर्तव्यभूमि का स्मारक है। राज्य-प्राप्ति के समाचार से प्रसन्न नहीं और बनवास के समाचार से दुखी नहीं ('प्रसन्नतां या न गताभिषेकस्तथा न मम्ले वनवासदु:खतः')। उनके लिए न राज्य सुख भोगार्थ था, न वनवास कष्टभोगार्थ। राज्य भी कर्तव्य-पालन के लिए था, वनवास भी कर्तव्य-पूर्ति के लिए था। जीवन का समस्त मार्ग उनके लिए कर्तव्य-धर्म-पूर्ण है।

पारिवारिक जीवन की दृष्टि से देखिए—राम एक आदर्श पुत्र, आदर्श भाई, आदर्श पति हैं। माता-पिता के प्रति उनके हृदय में असीम सम्मान का भाव है। भाइयों के प्रति उनका हृदय स्नेह से परिपूर्ण है। पत्नी उनकी परम अनुगता है, उसके प्रति उनके हृदय में सहज स्नेह है। किन्तु यह मातृप्रेम, यह दाम्पत्य स्नेह इतने उच्च स्तर पर हैं, इतने श्रेष्ठ संस्कारों से पूर्ण हैं कि वे उनके जीवन-कर्तव्यों और जीवनादर्शों में सहायक हैं। मोहाविष्ठ प्राणियों की तरह ये उनको कभी नीचे नहीं गिराते, ऊपर उठाते हैं। प्रेम यहाँ मुक्तिदाता है, मोहक और मूर्च्छाकारक नहीं। मनुष्य के स्नेह-सम्बन्धों का उद्देश्य जीवन के परम उद्देश्य में सहायक होना है, बाधक नहीं। सच्चे पुत्र, आदर्श भाई अथवा आदर्श पति का लक्षण यह नहीं है कि वह ममता की शृंखलाओं में बँधकर जीवन के नियुक्त कर्तव्य का त्याग कर दे;

जगत् के सब स्नेह-सम्बन्ध आत्मरूप को लेकर हैं इसलिए उनके यथा-स्थान होने में धर्म की प्रतिष्ठा है। जब वे सीमा का उल्लंघन करते हैं तो सामाजिक पराभव का कारण होते हैं। राम के जीवन में यही सत्य प्रकट हुआ है। उनके पारिवारिक जीवन में हमें स्नेह की कोमलता के साथ इसी कर्तव्य-निष्ठ दृढ़ता के दर्शन होते हैं। पिता के सत्य और धर्म की रक्षा के लिए युव-राजपद पर अभिषेक के दिन वे सुविधाओं और सुखों को छोड़कर जीवन के कण्टक-वन की ओर अग्रसर होते हैं। पिता की मूर्च्छा और मृत्यु, भाइयों की हृदय-व्यथा, पत्नी के कष्ट, स्वजनों का आर्त्तनाद, प्रजावर्ग का गंभीर शोक कोई उन्हें कर्त्तव्य-मार्ग से विरत नहीं कर पाते। सब से बड़ी बात तो यह है कि उनके इस त्याग में कहीं आवेश नहीं है, अनुचित वेग नहीं है। वह शान्त, आवेगहीन, मर्यादाओं से पूर्ण है। जब उनके ससुर जनक तथा भरत आदि माताओं सहित उनको मनाने जाते हैं तब स्नेह के भार से सिर झुकाये हुए वे केवल अपनी स्थिति स्पष्ट कर देते हैं और कर्तव्य का निर्णय कर आदेश करने का भार उन्हें ही सौंप देते हैं। लेक्चरबाजी वाली अहंकारपूर्ण भावना उनमें कहीं नहीं है।

सामाजिक और राष्ट्रीय आदर्शों की दृष्टि से विचार कीजिए तो हम उन्हें सदैव अन्याय, अधर्म की शक्तियों से युद्ध करता देखते हैं। उनका समस्त जीवन अनैतिकता और अधर्म के विरुद्ध एक निरन्तर संघर्ष का जीवन है। सामाजिक दृष्टि से अपने जीवन में उन्होंने निषादराज, शबरी इत्यादि अछूतों को अपनाया; अहिल्या का उद्धार करके मानो बताया कि महात्मा गण पतित को घृणा नहीं करते, उनमें अपनी शक्ति का अधि-ष्ठान करके उन्हें ऊपर उठाते हैं। छोटे-छोटे वनचरों को अपने संसर्ग और संस्कार से उन्होंने शक्ति और महत्व की सीमा पर पहुँचा दिया। आर्यावर्त्त का जीवन उस समय विशृंखल और विजड़ित हो रहा था। विद्या और शक्ति से

मदान्ध रावण के आतंक से समस्त दक्षिणापथ और मध्यभारत काँपता था। भोगप्रधान आसुरी सभ्यता ने धर्म और श्रेष्ठ संस्कारों का आर्यजीवन असम्भव कर दिया था। ऋषियों, तपस्वियों के कार्य में बड़ी बाधाएँ उपस्थित होती थीं। रावण ने अपनी विद्या-बुद्धि से अनेक प्राकृतिक शक्तियों पर अपूर्व क्षमता प्राप्त की थी। वायु और अग्नि की शक्तियों को वश में करके वह उनसे मनमाना काम लेता था। आर्य सभ्यता के लिए, एक ऐसी सभ्यता के लिए जो मनुष्य जीवन को आत्मिक विकास के मार्ग पर प्रेरित करती हो और जो तपःपूत अन्तःसंस्कृति को महत्व देती हो, संकट उपस्थित था।

राम ने अपने कौशल, पराक्रम, संघटन शक्ति और अक्षय आत्मविश्वास से रावण और उसकी अज्ञानमूलक पद्धति का विनाश किया। और बन्धनों में बँधी जनता को पुनः मुक्त और श्रेष्ठ वातावरण में जीने का अवसर प्रदान किया। इस युद्ध में भी हम देखते हैं कि राम के पास भौतिक शक्तियाँ शत्रु की अपेक्षा नगण्य थीं। पर आत्मिक शक्तियों और उदात्त गुणों की संघटना से उन्होंने भयंकर शत्रु पर विजय पाई। असत्य और अंधिकार से सत्य और प्रकाश का यह युद्ध ही राम के जीवन में प्रबलता के साथ व्यक्त हुआ है। मानवमात्र के जीवन में यह युद्ध चलता रहता है, चल रहा है। असत्य और अधर्म से युद्ध में हम जिस सीमा तक लगते हैं उसी सीमा तक मानों राम को अपने जीवन में उतारते हैं; उसी सीमा तक हम राममय हैं; उसी सीमा तक हम आर्य सभ्यता के प्रकाशस्तंभ और प्रतीक राम को अपने हृदय में पा सकते हैं।

× × ×

२. कृष्ण

कृष्ण का जीवन, कई अंशों में, राम के जीवन से भिन्न है। वह भारतीय संस्कृति की बहुमुखी शक्ति के प्रतिनिधि हैं। राम प्रचलित आदर्शों का,

सामाजिक मर्यादा का, यथासंभव, पालन करते हैं; इसीलिए हिन्दू धर्म में उन्हें मर्यादा-पुरुषोत्तम कहा गया है; कृष्ण लोक-कल्याण के लिए स्वयं नवीन आदर्शों की रचना करते हैं; प्रचलित आचारवाद उन्हें बाँध नहीं पाता; सामाजिक प्रथाएँ एवं परम्पराएँ उनकी गति नहीं रोक सकतीं। शुद्ध शक्ति के मूल स्रोत की भाँति वह बाधा-बन्ध-विहीन हैं; शुद्ध बुद्ध आत्मा की भाँति वह सब बन्धनों से परे हैं। इसीलिए हिन्दू उन्हें पूर्णपुरुषोत्तम कहते हैं।

कृष्ण का समय राष्ट्र के जीवन में अत्यन्त संकट का काल था। देश अनेक छोटे-छोटे राज्यों में बँट गया था। नृपतिगण मदान्ध हो रहे थे। वे लड़ाई-झगड़े, भोग-विलास में लगे रहते थे; प्रजा पर नाना प्रकार के अत्याचार करते थे। पूर्व में मगध तथा पश्चिम में यदु-कुल के नरेश बड़े शक्तिशाली हो उठे थे। पर प्रजा-रंजन की जगह प्रजा-पीड़न ही इनका मुख्य कार्य था। मगधराज जरासंध और यदुराज कंस अनीति और अत्याचार की साक्षात् मूर्त्ति थे। कंस ने तो अपने पिता उग्रसेन को गद्दी से हटाकर स्वयं राज्य हड़प लिया था। प्रजा त्राहि त्राहि करती थी। स्वार्थपरता, भोग-वासना और साम्राज्य-लिप्सा के आगे सच्चे क्षत्रिय धर्म का लोप हो गया था; नाना प्रकार के मारक शस्त्रास्त्रों का निर्माण हो रहा था। ब्राह्मण धर्म-त्याग, तपस्या, शुद्ध विज्ञान और लोककल्याण का धर्म—, जो राष्ट्रनीति को जनहित की ओर, सच्ची संस्कृति के संवर्द्धन और पोषण की ओर अग्रसर करता था, शिथिल और विनष्ट हो रहा था। वैश्यों की धर्मनीति अपनी सांस्कृतिक परम्परा को छोड़ बैठी थी। गोपालन की ओर अरुचि बढ़ रही थी। धन समाज-कल्याण का वाहन नहीं रह गया था। शूद्रों से सच्ची सेवा-वृत्ति लुप्त हो रही थी। आर्य धर्म में मानव जीवन की जो संघटना और योजना थी, वह टूक-टूक हो रही थी। आसुरी शक्तियाँ प्रबल हो रही थीं। सर्वत्र दम्भ, मोह, हिंसा, घृणा, आत्म-वंचना का राज्य था। जीवन पर अमृ-

तत्व तथा प्रकाश की जगह मृत्यु और अंधकार का शासन था। भारत देश तथा उसकी सभ्यता खण्ड-खण्ड हो रही थी। धर्म में, समाज में, राष्ट्रनीति में, देश के सम्पूर्ण जीवन में कोई निश्चित व्यवस्था न रह गई थी और दारुण विप्लव उपस्थित हो गया था।

इस विप्लव तथा अव्यवस्था को दूर कर एक नवीन धर्म, नवीन सभ्यता तथा नवीन समाज-व्यवस्था का निर्माण करने का प्रायः असंभव-सा काम जिस महापुरुष ने किया उसे ही हम कृष्ण कहते हैं। उन्होंने भारत की विभिन्न जातियों, विभिन्न धर्मों, विभिन्न सभ्यताओं के समन्वय द्वारा एक महाराष्ट्र,—महाभारत—की रचना करने की चेष्टा की; विभिन्न दर्शनशास्त्रों के तत्वों का एकीकरण करके एक व्यापक मानवधर्म का मार्ग दिखाया तथा जीवन भर अनीति और अत्याचार, पीड़क और उच्छेदक शक्तियों से लोहा लेते रहे।

बचपन से ही हम उन्हें दूसरों की सहायता, दूसरों का कष्ट निवारण करते देखते हैं। जब कंस का अत्याचार बहुत बढ़ गया तब उसे मार कर इन्होंने प्रजा का कष्ट दूर किया। कंस की मृत्यु के बाद प्रजा ने इन्हें राजा बनाना चाहा परन्तु इन्होंने अस्वीकार किया और कहा—'मैंने केवल प्रजा की रक्षा के निमित्त कंस का वध किया है; मुझे राज्य की कामना नहीं है।' इसके बाद कंस के पिता को राजा बनाकर वहाँ से चले गये।

पांचाल नरेश द्रुपद ने अपनी पुत्री द्रौपदी के स्वयंवर में अनेक राजाओं तथा संभ्रान्त पुरुषों को निमंत्रित किया। इस सभा में कृष्ण भी उपस्थित थे। अन्य राजाओं ने लक्ष्यवेध का प्रयत्न भी किया था पर यादवों ने नहीं किया। छद्मवेशी पाण्डव भी वनवास काल में घूमते फिरते अनिमन्त्रित इस सभा में उपस्थित थे। जब अर्जुन ने लक्ष्यवेध किया तब उपस्थित राजाओं ने झगड़ा खड़ा कर दिया। अर्जुन भिक्षुक ब्राह्मण के वेश में थे। एक भिक्षुक ब्राह्मण

बड़े-बड़े राजाओं को नीचा दिखाकर उनकी मनचाही चीज ले ले, यह उन लोगों से कैसे सहा जाता ? उन्होंने अर्जुन पर आक्रमण कर दिया। कृष्ण देख रहे थे कि विजयी व्यक्ति के साथ अन्याय हो रहा है। वह स्वयं महावीर थे; उनके साथ बलराम इत्यादि अनेक महावीर थे। वह चाहते तो बल-प्रयोग से लोगों को शान्त कर सकते थे परन्तु वह अकारण युद्ध को सदा बचाते थे। धर्म के लिए अनिवार्य हो उठने पर ही वह युद्ध में प्रवृत्त होते थे। उन्होंने जीवन में कभी अकारण अथवा धर्म-रक्षा के सिवा अन्य किसी कारण से युद्ध नहीं किया। कृष्ण ने राजाओं को डाँटकर कहा—"इन्होंने राज कुमारी को धर्म-विधि से प्राप्त किया है, लड़ाई बन्द करो।" कृष्ण की बात का तुरन्त असर हुआ। लड़ाई बन्द हो गई। पाण्डव अपने आश्रम को लौट गये।

सभा समाप्त हुई। राजा लोग अपने-अपने देश को लौट गये। पर कृष्ण पांचाल में रुक गये। अपने भाई बलदेव के साथ जाकर भिक्षुक वेशधारी पाण्डवों से मिले। वहाँ जाकर उन्होंने युधिष्ठिर को अपना परिचय दिया। पाण्डव उस समय शक्ति-साधन-हीन थे ; उनके प्रति सहानुभूति प्रकट करना कृष्ण जैसे महात्मा का ही काम था। वह उनकी मंगल कामना कर लौट आये और व्याह हो जाने तक अपने शिविर में ठहरे रहे। विवाह में उन्होंने पाण्डवों को पर्याप्त सामग्री उपहार-स्वरूप दी। और अपने देश लौट आये। श्री कृष्ण ने युधिष्ठिर के साथ जो व्यवहार किया वह पुराने मित्रों के बीच ही संभव है पर कृष्ण ने अपरिचित और साधनहीन, दुर्दशाग्रस्त पाण्डवों को खोजकर उनकी सहायता की, यही उनकी उच्च संस्कृति का एक उदाहरण है।

ऐसे शत-शत उदाहरण उनके जीवन में भरे हुए हैं। वह जहाँ रहते, अपने कार्य और अपनी वाणी से उच्च आर्य संस्कृति का संदेश सब को सुनाते, जो उनके प्रभाव में आता उसे श्रेष्ठ तपःपूत मानव धर्म, प्रेम-धर्म, भगवान् के प्रति सर्वस्वार्पण की दीक्षा देते। पारस्परिक कलह और झगड़ों

को मिटाने की चेष्टा करते। कौरव-पाण्डव युद्ध को टालने के लिए उन्होंने बड़ी चेष्टा की; स्वयं बीच-बचाव किया और जब किसी तरह कौरवों ने उनकी बात न मानी तो फिर धर्मयुद्ध में पाण्डवों को प्रवृत्त किया। उनके महान् प्रभाव से समस्त आसुरी शक्तियाँ विचलित हो उठी थीं। ज्यों-ज्यों उनका प्रभाव जनता में बढ़ता गया, उनके अनुयायियों की संख्या बढ़ती गई, उनकी शिक्षाओं तथा उनके द्वारा प्रतिपादित मानवधर्म: जीवनधर्म का प्रसार होता गया त्यों-त्यों प्रतिष्ठित तथा उन्मत्त शासन-शक्ति के मूर्तरूप अत्याचारी नृपतिगण उनके विरुद्ध होते गये। आर्य जीवन में जो महाक्रान्ति वह कर रहे थे वह प्रभुता और अधिकारसम्पन्न वर्ग सहन नहीं कर सकते थे। वह समाज के पीड़ित एवं निम्न वर्गों से मिलते-जुलते थे, उनके जीवन में भाग लेते थे; प्रेम और ईमानदारी को वह वंश-वैभव या जातिगत महत्ता से ऊँचा स्थान देते थे। राज-वैभव तथा आतिथ्य को ठुकराकर वह विदुर जैसों के घर शाक-पात ग्रहण करते थे; वह नारी की दबी, प्रच्छन्न शक्ति को उभारने और उसे जीवन में महत्वपूर्ण भाग देने के पक्षपाती थे। नारी का अपमान सहन नहीं कर सकते थे। विवाह में भी वह प्रचलित परम्पराओं में सुधार के पक्षपाती थे। उन्होंने स्वयं अपनी बहिन सुभद्रा के साथ अर्जुन को, आत्मीयों एवं गुरुजनों की इच्छा के विरुद्ध विवाह कर लेने की सम्मति दी थी। वह ग्वालों के साथ घूमते थे; गोवंश-वृद्धि और गोपालन पर जोर देते थे। अनेक प्रचलित कुरीतियों एवं मतमतान्तरों का विरोध करके उन्होंने एक समन्वयमूलक धर्म का झंडा खड़ा किया था। वह विभिन्न जातियों, सम्प्रदायों, स्वार्थों के एकीकरण द्वारा एक महती सभ्यता एवं एक महाराष्ट्र का निर्माण कर रहे थे। महाभारत के रूप में देश में जो विस्फोट हुआ और जिसमें भीषण नर-संहार हुआ वह वस्तुतः इनके क्रान्तिकारी जीवनधर्म के विरुद्ध आसुरी शक्तियों का एक विस्फोटमात्र था। इसमें सत्वप्रधान तथा ताम-

सिक शक्तियों में घोर संघर्ष हुआ और हिंसक एवं पीड़क पक्ष पूर्णतः पराजित एवं विनष्ट हो गये। इस महायुद्ध में उनके विरोधी प्रायः निर्मूल हो गये और उनमें दृढ़ श्रद्धा रखने वाले कुछ अनुयायी ही बचे। इस महाश्मशान से श्रीकृष्ण-प्रतिपादित जीवनधर्म की एक नई ज्योति प्रकट हुई। एक महाराष्ट्र का जन्म हुआ और नवयुग की प्रतिष्ठा हुई।

कृष्ण ने जिस जीवनधर्म से भारत को दीक्षित किया उसका वर्णन, संक्षेप में, गीता में किया गया है। गीता की गणना संसार के सर्वश्रेष्ठ ग्रंथों में की जाती है। इसमें जिस जीवनधर्म की दीक्षा दी गई है वह मानवमात्र के लिए है; वस्तुतः वही एक मानवधर्म हो सकता है। लोकमान्य तिलक के शब्दों में 'गीता हमारे धर्मग्रंथों में एक अत्यन्त तेजस्वी और निर्मल हीरा है।' मालवीय जी के शब्दों में 'मनुष्य जाति के इतिहास में सबसे उत्कृष्ट ज्ञान और अलौकिक शक्तिसम्पन्न पुरुष भगवान् श्री कृष्ण हुए हैं और पृथ्वी मण्डल की प्रचलित भाषाओं में उन भगवान् कृष्ण की कही हुई गीता के समान छोटे वपु में इतना विपुल ज्ञानपूर्ण कोई दूसरा ग्रंथ नहीं है।' गांधी जी कहते हैं—'गीता विश्व-धर्म-पुस्तक है।...जब-जब संकट पड़ते हैं, तब-तब संकट टालने के लिए हम गीता के पास दौड़े जाते हैं और उससे आश्वासन पाते हैं।...ऐसी एक भी धार्मिक समस्या नहीं, जिसे गीता हल न कर सके।' स्वर्गीय अरंडेल इसे संसार की सर्वश्रेष्ठ पुस्तक कहा करते थे। जीवन दुःखमय है। प्रत्येक मानव उससे छूटना चाहता है। वह मृत्यु पर विजय चाहता है, अमर जीवन चाहता है; वह जीवन और जगत् के सम्पूर्ण रहस्यों से परिचित होना चाहता है अर्थात् असीम ज्ञान चाहता है; वह अविच्छिन्न आनन्द चाहता है; वह सम्पूर्ण बन्धनों से मुक्ति चाहता है, और वह अपने ऊपर तथा सम्पूर्ण परिस्थिति पर अधिकार चाहता है। गीता में इन्हीं का मार्ग-दर्शन है। उसमें आसक्ति तथा फलेच्छा त्याग कर कर्म करने तथा सर्वोच्च सत्ता के प्रति आत्म-

समर्पण करके उससे अभिन्नता की अनुभूति प्राप्त करने का मंत्र है। कृष्ण-द्वारा बताया जीवन-धर्म ही विश्व का धर्म हो सकता है।

× × ×

३. महावीर

महावीर भारतीय संस्कृति के त्याग और वैराग्य के प्रतीक हैं। ढाई हजार वर्ष पूर्व कुंडिनपुर के राजा महाराज सिद्धार्थ के यहाँ इनका जन्म हुआ था। इनका नाम वर्द्धमान रखा गया। यह सुन्दर, रूपवान और तेजस्वी थे। बड़े होने पर यह अत्यन्त विचक्षण और बलवान तथा पराक्रमी निकले। पर सम्पूर्ण सुख-सुविधाओं के होते हुए भी बचपन से ही इनमें वैराग्य भावना का उदय हो गया था। जब यह आठ वर्ष के थे तभी से इनके मन में विचार उठने लगे कि 'यह दिखाई देने वाला संसार असार है; सांसारिक आनन्द क्षणभंगुर हैं और उनका परिणाम दुःख के सिवा और कुछ नहीं हो सकता। संसार में आसक्ति का अर्थ कर्म के बन्धनों में बँधते जाना है। इस-लिए अनन्त सुख और वास्तविक आनन्द का द्वार त्याग द्वारा ही खुल सकता है।' धीरे-धीरे इनके ये विचार दृढ़ होते गये और उस अल्पावस्था में ही अहिंसा इत्यादि बारह अनुव्रतों का पालन करना आरंभ कर दिया। व्रतों का पालन करते हुए अन्य सब गृहस्थोचित कर्तव्यों का पालन करते रहे। पर जैसे कमल का पुष्प जल में रह कर भी जल से अछूता रहता है वैसे ही वह संसार के कर्म करते हुए भी सांसारिक वासनाओं से अलिप्त थे। कर्तव्यों का पालन करते हुए भी तप और ध्यान में उनका बहुत समय जाता था। वे बड़ी विकलता से उन साधनों की चिन्तना किया करते थे जिनका अनु-सरण करके कर्म की बेड़ियों से मुक्ति मिल सके; मानव बन्धनमुक्त हो सके।

माता पिता की सेवा, साहित्य तथा कलाओं का अवगाहन, राजोचित कर्तव्यों का पालन, विद्याओं का अभ्यास तथा मनन इत्यादि कार्य भी साथ

साथ चलते रहते थे। एक दिन की बात है कि राजकुमार वर्द्धमान ध्यानस्थ थे। उस समय उनकी अवस्था तीस साल की थी। उस अवस्था में उनके मानस-पट पर उनके जन्म-जन्मान्तरों के अनेक चित्र आये और गये। उन्होंने विचारा कि अनन्त काल से मेरे अनेक जन्म होते रहे हैं, और मैं दुःख-सुख की अनन्त धारा में बहता रहा हूँ। न जाने कितने जन्म व्यर्थ बीत गये। इस जन्म में भी तीस साल बीत गये। मैंने न विशेष तप किया, न शुद्ध ज्ञान के लिए सांसारिक जीवन का त्याग किया। मोह, जो सब दूषणों की जड़ है, मेरे मन में वर्तमान है।' वह इस निष्कर्ष पर पहुँच गये कि कर्म आत्मा से अलग वस्तु है। आत्मा ही अन्तिम और सच्चा आश्रय है। आत्मा को छोड़ और कोई वस्तु आत्मा को सहायता नहीं प्रदान कर सकती। शरीर आत्मा से भिन्न है। आत्मा के बन्धन का कारण कर्मों का बहाव है। मोक्ष तभी प्राप्त हो सकता है जब कर्म-बन्धन से पूर्ण स्वतंत्रता मिल जाय। इन्होंने घर-बार छोड़ देने का निश्चय कर लिया। उन्होंने अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति दीनों-अनाथों को बाँट दी। वन में चले गये; आभूषणों और वस्त्रों का भी पूर्ण त्याग कर दिया। सिर के सुन्दर बाल निकाल दिये और तप का जीवन आरंभ किया। अधिकांश समय आत्म-ध्यान में बीतता था। जाड़ा गर्मी बरसात सब में अनावृत शरीर से निश्चल बैठे ध्यान में मग्न रहते थे। बहुत दिन एक स्थान पर न ठहरते थे। उज्जयिनी, कौशाम्बी इत्यादि की यात्रा भी की। घर छोड़ने के बाद बारह वर्ष तक कठोर तपस्या और साधना में व्यतीत किये। अन्त में ईसा के ५५७ वर्ष पहले वैशाख शुक्ल दशमी को संध्या के समय, जृम्भक गाँव में ऋजुकुल नदी के तट पर एक शालिवृक्ष के नीचे, जब वे ध्यानमग्न थे, उन्हें कैवल्य-ज्ञान हो गया। तब से वह तीर्थङ्कर कहलाये। बड़े-बड़े नरेशों और विद्वानों ने उनकी शिक्षाओं को स्वीकार किया। लाखों नर-नारी उनमें अद्भुत् श्रद्धा रखकर उनका उपदेश सुना करते थे। कैवल्य ज्ञान प्राप्त करने के

अनन्तर तीस वर्ष तक वह घूम-घूमकर लोगों को उपदेश करते रहे। मगध, मिथिला, श्रावस्ती इत्यादि प्रदेशों में भ्रमण कर इन्होंने अपने धर्म का प्रचार किया।

वस्तुतः वह एक महापुरुष थे। उन्होंने स्वार्थ तथा मोह में लिप्त लाखों व्यक्तियों का जीवन बदल दिया। इनके अनुयायी ही अपने को जैन कहते हैं। आज भी जैन साधुओं में अपरिग्रह का जो प्रसार है वह किसी भी वर्तमान धर्म के साधु सम्प्रदाय में नहीं है। इन्होंने आज, अनेक शताब्दियाँ बीत जाने और स्वभावतः मूल धर्म में सामयिक विकृतियाँ आ जाने के बाद भी, महावीर के उच्च त्याग और अपरिग्रहपूर्ण जीवन की कुछ परम्पराओं की रक्षा कर रखी है।

महावीर के जीवन की सब से मुख्य बात अपरिग्रह और त्याग है। उनका हृदय सच्चे प्रेम से पूर्ण था ; प्राणिमात्र की कल्याण-भावना से ही उन्होंने सत्य-शोध में इतना कष्ट उठाया। अहिंसा पर उन्होंने बहुत ज़ोर दिया। उन्होंने बाह्याचारों के बन्धन से भटकती मानवता को मुक्त किया। उनका कहना था कि मोक्ष या निर्वाण पद साम्प्रदायिक बाह्याडम्बरों अथवा कर्मकांड, यज्ञ-यागादि द्वारा नहीं प्राप्त हो सकता, सच्चे धर्म के स्वरूप में आश्रय ग्रहण करने से होता है। उन्होंने जाति-पाँत की विभाजक रेखा को भी मिटाया। उनका कहना था कि धार्मिक दृष्टि से मनुष्य-मनुष्य में भेद-भाव नहीं हो सकता। चाहे किसी का जन्म उच्च जाति में हुआ हो या नीच जाति में वह मोक्षपद पाने का अधिकारी है। वे जीवन की पवित्रता, शुद्धाचरण, परोपकार इत्यादि गुणों को विशेष महत्व देते थे। उन्होंने कहा है—"ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो तप के द्वारा प्राप्त नहीं की जा सकती।" उन्होंने गृहस्थों को क्षमा, विनय, सत्य, सन्तोष, इन्द्रिय-दमन, तप, आत्म-परिचय, जल-कमलवत् जीवन-यापन, पवित्राचरण और अहिंसा को जीवन-धर्म बनाने का

आदेश किया है। सामाजिक दृष्टि से भारतीय संस्कृति और सभ्यता को महावीर की सबसे महत्वपूर्ण देन यह शिक्षा है कि सभी मनुष्य एक समान हैं और एक समान उन्नति कर सकते हैं। सब भाई-भाई हैं; न कोई छोटा है, न बड़ा।

× × ×

४. बुद्ध

बुद्ध भारतीय संस्कृति के नैतिक एवं सदाचार तत्व के प्रतीक हैं। महावीर के बाद उनके जन्म ने एक बड़े अभाव की पूर्ति की। सच पूछिए तो उनका मार्ग भी वस्तुतः वही है जो महावीर का है। अपनी तपस्या एवं साधना के प्रारंभिक काल में उन्होंने महावीर-द्वारा निर्दिष्ट ढंग पर ही कार्य किया पर बाद में अपने अनुभून ज्ञान से उन्होंने देखा कि यदि धर्म को वस्तुतः कोटि-कोटि मनुष्यों के जीवन में क्रियात्मक भाग लेना है तो उसे जटिल आध्यात्मिकता के जाल से निकालकर नैतिक और सरल रूप में उपस्थित करना होगा। उसका स्रोत चाहे पर्वत की ऊँचाइयाँ हों या गहन वन पर उसे कल्याणकारी बनने के लिए समतल भूखण्डों पर बहना होगा, जीवन के राजमार्ग पर विचरना होगा। इसलिए उन्होंने सृष्टि के आदि, अन्त वा उसके कर्ता के अस्तित्व के विवादग्रस्त प्रश्नों को छोड़कर मानवजीवन सामूहिक रूप से कैसे उच्च और कल्याणकारी हो सकता है, अर्थात् धर्म की शिवत्व भावना को अंगीकार किया। धर्म को सरल से सरल रूप में रखने वाले जितने प्रवक्ता संसार में हुए हैं उनमें बुद्ध का स्थान अद्वितीय है। यही कारण है कि आध्यात्मिक गहराई में कम होकर भी बुद्ध धर्म का संसार में खूब प्रसार हुआ और शताब्दियों तक उसने भारत के इतिहास, सभ्यता, समाज-व्यवस्था, कला, साहित्य, स्थापत्य सब को प्रबल रूप में प्रभावित किया।

महावीर की भाँति ही बुद्ध एक राजघराने में, कपिलवस्तु के राजा शुद्धोदन

की महारानी माया के गर्भ से उत्पन्न हुए थे। इनका नाम सिद्धार्थकुमार रखा गया। बचपन से ही यह कुशाग्रबुद्धि थे। लाड़-प्यार से पाले गये। बड़े ही दयालु और कोमल स्वभाव के थे; किसी को दुःख या कष्ट में न देख सकते थे। एक दिन उनके चचेरे भाई देवदत्त ने एक हंस को तीर मारा। वह फड़फड़ाकर तुरन्त नीचे आ पड़ा। सिद्धार्थ ने देखा तो उसे प्यार से उठाकर छाती से लगा लिया, और धीरे से बाण निकालकर रक्त पोंछ डाला। देवदत्त ने आकर हंस माँगा, तब कुमार ने कहा—"यह पक्षी मेरा है, क्योंकि मैंने इसकी प्राण-रक्षा की है। तुमने तो इसकी हत्या करने में अपनी ओर से कोई कसर उठा नहीं रखी थी।"

किशोरावस्था के आरम्भ में ही माता-पिता ने एक अत्यन्त रूपवती राजकन्या यशोधरा से सिद्धार्थ का विवाह कर दिया क्योंकि उन्हें भय था कि पुत्र कहीं संन्यासी न हो जाय। सचमुच कुमार भोग-विलास में डूब गये। यहाँ तक कि सिद्धार्थ के चाचा तथा अन्यान्य लोगों को यह बात असह्य हो उठी कि शाक्यवंश का राजकुमार अपना समय यों भोग-विलास में बिताये। उन्होंने कहा कि राजकुमार को युद्धविद्या तथा राजनीति में निपुण होना चाहिए, अन्यथा उनसे देश का क्या कल्याण होगा? यदि बाहर से कोई शत्रु चढ़ आये तो फिर हमारी ओर से सेनापति और पथदर्शक का उत्तरदायित्व कौन ग्रहण करेगा? पिता ने यह शिकायत राजकुमार के कानों तक पहुँचाई। फलतः शाक्यवंश के राजकुमारों की परीक्षा के लिए एक दिन नियत हुआ। उस परीक्षा में सिद्धार्थ ने अपनी योग्यता का ऐसा परिचय दिया कि लोग आश्चर्यचकित हो गये। इस समय उनकी अवस्था लगभग बीस वर्ष की थी। अब उनके मन में अनेक प्रकार के विचार उठने लगे थे। कभी-कभी वह एकान्त में बैठकर इस बात पर विचार किया करते कि क्या इस संसार में सभी लोग मेरे ही समान सुख में पल रहे हैं? क्या सभी को धनद्रव्य तथा

अन्य सुविधाएँ प्राप्त हैं कि उनकी इच्छाएँ पूरी हो सकें। यदि ऐसा नहीं है तो क्या यह मेरा कर्तव्य नहीं है कि मैं सब को अपने समान सुखी बनाने की चेष्टा करूँ? धीरे-धीरे यह भाव उनके मन में जड़ पकड़ता गया कि जीवन का कोई महान उद्देश्य है और मैं भोग-विलास में दिन बिताने के लिए नहीं वरं संसार में कोई महान् और असाधारण कार्य करने के लिए आया हूँ। जब उनके पिता ने उनकी एकान्त-सेवन एवं चिन्ता की वृत्ति बढ़ती देखी तो चिन्तित हो गये। उनको भय हुआ कि कहीं राजकुमार गृह-त्याग न कर दे इसलिए उन्होंने ऐसा प्रबन्ध कर दिया कि कोई भी ऐसी वस्तु उनके सामने न आवे जिसे देखकर राजकुमार के मन में दुःख या अशान्ति उत्पन्न हो। बचपन में वह सुख-वैभव में पले थे; किशोरावस्था में भोगविलास में लिप्त हो गये थे और जब उनमें सच्ची जिज्ञासा उत्पन्न हुई तब पिता ने उनके चतुर्दिक सुख-सुविधा की एक दीवार खड़ी कर दी। यही कारण था कि अभी तक उनको संसार के प्राणियों के वास्तविक दुःख—कष्ट और स्थिति का पता न चल पाया था। वह नहीं जानते थे कि मनुष्य रोग, दुःख और मृत्यु से ग्रस्त है।

एक दिन सिद्धार्थकुमार रथ में बैठकर घूमने के लिए निकले तो मार्ग में उन्होंने एक बूढ़े आदमी को देखा, जिसकी कमर झुक गई थी, बाल पक कर बिलकुल सफेद हो गये थे, आँखें भीतर को धँस गई थी, हड्डियों पर चमड़े की झिल्लीभर रह गई थी; शरीर सूख कर काँटा हो गया था, एक—एक डग रखने में वह हाँफने लगता था। राजकुमार ने ऐसा मनुष्य न देखा था। उसे देखकर उन्होंने अपने सारथी चन्दा से पूछा—"इस आदमी की दशा और लोगों से भिन्न क्यों है?"

चन्दा ने हाथ जोड़कर कहा—"राजकुमार! पहले यह भी आप के ही समान बलवान और हृष्ट-पुष्ट था। वृद्धावस्था में सभी की यही दशा हो जाती है।"

इस नई जानकारी से राजकुमार के मन को ऐसी चोट लगी कि उन्होंने रथ लौटाने की आज्ञा दी और घर आकर विषम चिन्ता में लीन हो गये। बार-बार आँखों में उस वृद्ध की मूर्ति नाच उठती थी, जिसका जीवन उसके लिए एक दुर्वह बोझ के समान हो उठा था।

अगले दिन रथ पर घूमने निकले तो एक रोग-जर्जर व्यक्ति पर दृष्टि पड़ गई। उन्होंने चन्दा से पूछा—"इस आदमी की ऐसी दशा क्यों?"

चन्दा ने उत्तर दिया—"महाराज! यह किसी रोग के पंजे में फँस गया है। संसार में इससे भी भयंकर रोगों का अस्तित्व है।"

राजकुमार का चित्त व्याकुल हो गया और वह सैर अधूरी छोड़ लौट आये। पिछले दिन अशक्त वृद्ध को देखकर जो चिन्ता मन में उठी थी उसकी रेखाएँ और गहरी हो गईं। रह-रह कर उनके मन में यही आता था कि जब तक इन दुःखद अवस्थाओं से बचने का उपाय न ज्ञात हो जाय भोग-विलास, सुख-वैभव सब निरर्थक हैं।

एक दिन वह वायु-सेवन को गये तो उनकी दृष्टि कपड़े में लिपटे एक आदमी पर पड़ी जो बाँस की टिकठी पर लेटा हुआ था और लोग उसे कन्धे पर उठाये कहीं लिये जा रहे थे। उन्होंने पूछा तो मालूम हुआ कि यह आदमी मर गया है और लोग इसे जलाने के लिए ले जा रहे हैं। उन्होंने पूछा कि क्या यह आदमी फिर से जीवित नहीं हो सकता? उत्तर मिला 'नहीं'। उन्होंने आग्रहपूर्वक पूछा कि मेरे पास जो सम्पूर्ण वैभव है वह दे दूँ तो भी क्या कोई इसे जीवित कर सकता है? उत्तर मिला—'नहीं प्रत्येक प्राणी की, अन्त में, यही गति है।' अब तो कुमार बहुत दुखी हो गये। वह सोचने लगे कि जिस वैभव से मैं एक साधारण मनुष्य की मृत्यु से रक्षा नहीं कर सकता, उसका महत्व क्या है? जब एक दिन मेरी भी यही गति होगी तो ऐसे अस्थायी, क्षणभंगुर जीवन के मोह में मैं क्यों फँसूँ? मनुष्य का जीवन एक सपना जैसा है, जो

देखते-देखते टूट जाता है। इस वैभव और महल को लेकर मैं क्या करूँगा!

दूसरे दिन उन्होंने एक संन्यासी को देखा। उसके शरीर पर साधारण वस्त्र और हाथों में एक कमण्डलु मात्र था पर अपनी निष्पन्नता के बीच भी वह प्रसन्न और सन्तुष्ट था। सिद्धार्थ के पूछने पर चन्दा ने उन्हें बताया कि वह मनुष्य गृह-त्यागी संन्यासी है। उसने संसार के सम्बन्धों का त्याग कर दिया है। सिद्धार्थ को प्रकाश की एक किरण मिल गई। अब उनके मन में भावना उठी कि 'यही मार्ग है, मैं भी ऐसा ही करूँगा। घर-द्वार सब छोड़ स्थिर-चित्त से सच्चा ज्ञान प्राप्त करूँगा, और संसार को दुःख-रोग, बुढ़ापा और मृत्यु से बचने का उपाय बताऊँगा। बस; यही मेरे जीवन का उद्देश्य है। उसी दिन उनकी पत्नी यशोधरा को पुत्र उत्पन्न हुआ। पर अब वैराग्य की भावना उनके मन में जड़ जमा चुकी थी इसलिए उन्होंने इसे और बन्धन का कारण समझकर उसी दिन गृहत्याग का निश्चय कर लिया। आधीरात को उन्होंने चन्दा को घोड़ा लाने की आज्ञा की। प्यारी पत्नी, पुत्र, माता-पिता को यों छोड़ जाने के कारण जो मानसिक संघर्ष उनके मन में हुआ होगा, उसकी केवल कल्पना की जा सकती है। परन्तु अब उन्होंने संकल्प कर लिया था कि जो हो इन दुःखों से छूटने का उपाय जाने बिना जीवन निरर्थक है। नगर के बाहर पहुँचकर वह घोड़े से उतर पड़े; तलवार से अपने सुन्दर केश काट डाले, राजसिक वस्त्रों का त्याग करके बहुत सामान्य वस्त्र धारण किये। सत्य के शोध के लिए, प्राणिमात्र के दुःख-मोचन के लिए उदारहृदय राजकुमार ने सम्पूर्ण सुख और वैभव का त्याग किया और स्वेच्छा से राजपुरुष के स्थान पर भिक्षुक बन गये। संसार के दुःख-निवारणार्थ उन्होंने जो अद्भुत त्याग किया, उससे मानव जाति का इतिहास प्रकाशित है।

सिद्धार्थ ने अपने पिता की राज्य-सीमा में रहना उचित न समझ गंगा पार किया और मगध की राजधानी राजगृह में प्रवेश किया। वहाँ के नरेश बिम्बसार से उनकी भेंट हुई। बिम्बसार उस समय एक बड़ा यज्ञ कर रहे थे जिसमें बहुसंख्यक पशुओं की बलि दी जाने वाली थी। सिद्धार्थ कुमार ने राजा को समझाया—"देवता यदि बलिदान से ही प्रसन्न होते हैं तो निरपराध मूक पशुओं के बलिदान से कभी प्रसन्न न होंगे। सच्चा यज्ञ और सच्चा बलिदान झूठ, कपट, हिंसा तथा अन्यान्य पापों का बलिदान है।" राजा के मन पर उनके उपदेश का बड़ा प्रभाव पड़ा और उसने पशुबलि रोक दी।

इसके पश्चात् सिद्धार्थ ने राजगृह के निकट एक पहाड़ी की गुफा में डेरा डाला और वहाँ अलार्क तथा उदक मुनियों से अध्यात्म तथा योग विद्या के रहस्यों का ज्ञान प्राप्त किया। पर उनके मन को शान्ति न मिली। फिर एक जंगल में जाकर कठोर तपस्या की; शरीर सूखकर काँटा हो गया पर उन्हें वह चीज न प्राप्त हुई जिसकी खोज में वह भटक रहे थे। उन्होंने यह भी अनुभव किया कि शरीर की उपेक्षा करने और उसे कष्ट देने से कुछ भी न होगा; अब वह भोग-विलास तथा शरीर-पीड़न इन दोनों 'अतियों' को छोड़ मध्यमार्ग का अनुसरण करने लगे। प्रायः ध्यान में मग्न रहते और गहरी चिन्ता किया करते थे। एक बार वह निरंजना नदी के तट पर एक पीपल के पेड़ के नीचे बैठ गये और प्रतिज्ञा की कि जब तक ज्ञान प्राप्त न होगा मैं यहाँ से न उठूँगा। इस दृढ़ निश्चय का परिणाम यह हुआ कि एक दिन रात के समय उन्हें अनुभूति हुई कि वह अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँच गये हैं और जिस ज्ञान की खोज थी वह प्राप्त हो गया है। वह समझ गये कि 'संसार न्याय और सत्य के द्वारा ही चलता है; प्रत्येक कार्य का कोई न कोई कारण अवश्य होता है, और कर्म-फल से कोई बच नहीं सकता। समस्त दुःखों का मूल वासना है और वासना का कारण अज्ञान है। सभी

पदार्थ अनित्य हैं। जब मनुष्य जन्म-मृत्यु के बंधन से छूटकर निर्वाण पद प्राप्त कर लेता है तभी सच्चा सुख और शान्ति पाता है। निर्वाण तभी प्राप्त होता है जब मनुष्य अपने अशुभ कार्यों का फल भोग चुकता है और मन में किसी प्रकार की कोई वासना शेष नहीं रह जाती। निर्वाण में सभी दुःख-क्लेश, रोग-शोक-ताप मिट जाते हैं ; कामनाएँ शान्त हो जाती हैं ; राग-द्वेष का नाश हो जाता है। निर्वाण को 'उस पार' भी कहा गया है। 'इस पार' दुःख है ; 'उस पार' सुख है।

ज्ञान-प्राप्ति के अनन्तर उन्होंने चार सत्यों का निरूपण किया—

१. जब तक यह संसार है, तब तक दुःख और क्लेश भी हैं।

२. दुःख का मूल कारण सांसारिक पदार्थों में आसक्ति है।

३. निर्वाण-प्राप्ति का उपाय आत्म-संयम और इन्द्रिय-निरोध है।

४. निर्वाण की इच्छा रखने वालों के लिए 'अष्ट चक्र' की साधना आवश्यक है।

'अष्ट चक्र' ये हैं—१. सत्य में ध्यान २. बुद्धि का सदुपयोग, ३. सत्कर्म में दृढ़ता, ४. सत्य सेवा, ५. सत्य विश्वास, ६. उच्च उद्देश्य, ७. मृदुभाषण, ८. सत्य व्यवहार।

अब वह 'बुद्ध' हो गये। बुद्ध का अर्थ ही है—वह व्यक्ति जिसका विवेक जाग्रत हो गया हो। जिस स्थान पर उन्हें ज्ञान हुआ था उसी का नाम आज, 'बुद्ध गया' है। बुद्ध होने के बाद कुछ दिनों तक उन्होंने मनन किया और घूम-घूमकर अपने नवीन ज्ञान का उपदेश करने लगे। लाखों व्यक्ति उनके अनुयायी हो गये। अनेक राजाओं ने, जिनमें उनके पिता तथा बिम्बसार भी थे, नवीन मत को अंगीकार किया। धीरे-धीरे उनका सन्देश दूर-दूर तक फैल गया। एक नवीन धर्म भावना, एक नवीन जीवन-मार्ग ने समाज की सुषुप्ति को दूर कर दिया। सर्वसाधारण में तेजी से यह धर्म फैलने लगा। अस्सी वर्ष

की आयु तक जगत् को नवीन मार्ग की दीक्षा देने के पश्चात् कुशीनगार के समीप उनका देहान्त हुआ।

महावीर की भाँति उन्होंने जाति-पाँति, ऊँच-नीच, राजा-रंक के बन्धनों पर प्रहार किया। उनका धर्म सब के लिए था। उसमें किसी के लिए भेदभाव न था। उनका कहना था कि कोई जाति दूसरे से श्रेष्ठ नहीं है। श्रेष्ठता योग्यता में है, जाति वा जन्म में नहीं; देह पर भस्म रमाने, व्रत, उपवास रखने, भूमि पर सोने से ही किसी का कल्याण नहीं हो सकता। ऐसे कर्म मनुष्य को अपने किये हुए पापों का फल भोगने से नहीं बचा सकते। उन्होंने सत्कर्म पर बहुत जोर दिया; दया और अहिंसा को मानव धर्म बताया। लोगों को सादा, पवित्र जीवन बिताने की शिक्षा दी। यही कारण है कि देश देशान्तरों में दूर-दूर तक उनका धर्म फैल गया और शताब्दियों तक भारत के इतिहास और समाज को उसने प्रभावित किया। बौद्धसंघ में दीक्षित होते समय जो प्रतिज्ञाएँ ली जाती हैं उन्हीं से बौद्ध धर्म का नैतिक धर्म के रूप में परिचय मिलता है। प्रतिज्ञाएँ ये हैं—

१. मैं हिंसा न करूँगा,

२. मैं किसी प्रकार की चोरी न करूँगा,

३. मैं पवित्र जीवन व्यतीत करूँगा,

४. मैं झूठ नहीं बोलूँगा,

५. किसी मादक द्रव्य का सेवन नहीं करूँगा।

संसार-त्यागी बौद्ध भिक्षुओं को इनके अतिरिक्त पाँच और प्रतिज्ञाएँ लेनी पड़ती हैं—

१. मैं केवल नियत समय पर भोजन करूँगा,

२. नाच-रंग, गाने-बजाने से मुझे कुछ प्रयोजन न होगा,

३. मैं गद्दी पर नहीं सोऊँगा,

४. मैं आभूषणों का व्यवहार नहीं करूँगा,

५. मैं धन ग्रहण नहीं करूँगा।

इन सब प्रधान प्रतीकों में सर्वसामान्य विशेषता यह है कि उन सब में जीवन के अन्तःसत्वों, आन्तरिक गुणों, आत्म-निरीक्षण, त्याग-तपस्या पर अधिक जोर दिया गया है—और उन सब में समाज के वास्तविक कल्याण की भावना प्रधान है। सब में स्वार्थ पर अंकुश है, आत्म-संयम है, भोगासक्ति का त्याग है, और सब जीवन को अन्धकार से प्रकाश की ओर, दुःख से सुख की ओर, बन्धन से मुक्ति की ओर ले जाते हैं। यही भारतीय संस्कृति का गौरव है।

भारतीय संस्कृति के कुछ आधुनिक भारतीय उन्नायक

ब्राह्मसमाज और थियोसफी

अठारहवीं शताब्दी के अन्त में भारतीय संस्कृति प्रायः निष्क्रिय, शिथिल और मूर्च्छित हो गई थी। शताब्दियों की दासता ने उसका सत्व चूस लिया था। मुस्लिम शासन के मध्यकाल में, जब मुसलमान भी धीरे-धीरे इस देश को, मातृभूमि के रूप में अपनाने लगे थे, भारत के विभिन्न भागों में मध्ययुगीन सन्तों के प्रयत्न से एक समन्वयात्मक सांस्कृतिक पुनर्गठन का कार्य आरंभ हुआ था। उसे कुछ सफलता भी मिली पर वह भलीभाँति पनपने भी न पाई थी कि युरोपीय व्यापारियों के साथ धीरे-धीरे एक नये प्रकार की सभ्यता, शिक्षा और विचारधारा का प्रवेश इस देश में हुआ और ज्यों-ज्यों उसका सम्पर्क व्यापार, युद्ध और राजनीतिक सफलता के कारण सघन होता गया, त्यों-त्यों इस देश की आत्मा संकुचित होती गई और उसके साथ हमारी संस्कृति के पुनर्जागरण और पुनर्गठन की क्रिया भी बन्द हो गई।

बहुत दिनों तक यह स्थिति रही। उन्नीसवीं शताब्दी में इस स्थिति के विरुद्ध एक असन्तोष ,जाग्रत भारतीयों में उत्पन्न हुआ। धीरे-धीरे वह घना होता गया, और बाद में धर्म, संस्कृति, साहित्य तथा राजनीति में विविध धाराओं के रूप में फूट निकला। यद्यपि इनके क्षेत्र अलग-अलग थे पर सब के मूल में अपनी सभ्यता और संस्कृति के पुनरुद्धार तथा जातीयता का तीव्र संवेदन था। ब्राह्मसमाज, थियोसफ़ी, आर्यसमाज, रामकृष्णमिशन, (अरविन्द का) महाशक्तिवाद, और (गांधी का) सर्वोदय इसी के विविध रूप हैं। राजा

राम मोहनराय और केशवचन्द्र सेन ने एक ओर मुस्लिम विचारधारा के एकेश्वरवाद और दूसरी ओर ईसाइयों की प्रेममूलक प्रवृत्तियों के साथ वेदान्त के ब्रह्मवाद को मिलाने का प्रयत्न किया। उनमें पूर्व और पश्चिम का भी समन्वय था पर आधार भारत की ही संस्कृति थी। कुछ शिक्षित लोगों में यह विचार-धारा फैली पर बढ़ न पाई। बंगाल तथा बम्बई के कुछ हिस्सों में फैल कर रह गई। उनके अनुयायियों की कार्यपद्धति तथा रहन-सहन के कारण, बंगाल तक में, जहाँ उन्हें कुछ सफलता मिली, उनके विषय में बड़ा भ्रम फैला। पर इतना हुआ कि हिन्दू धर्म के प्राणहीन बाह्याचारों को धक्का लगा और लोगों में प्राचीन संस्कृति के प्रति जिज्ञासा की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई।

थियोसफ़ी भी प्राचीन भारतीय संस्कृति की मूल प्रेरणाओं को लेकर अन्य धर्मों के प्रति सामञ्जस्य रखने की भावना की एक प्रवृत्ति के रूप में आई। सर्वधर्मसमभाव तथा धार्मिक सहिष्णुता का भाव बढ़ाने में इसने बड़ा काम किया। यह खण्डन की अपेक्षा प्रत्येक धर्म से श्रेष्ठ तत्व ग्रहण करने की प्रवृत्ति लाने में सहायक हुई। उपनिषद् के विचारों को लेकर उनको आधुनिक जीवन में जड़ने की चेष्टा की। सब धर्मों का मूल तत्व तथा प्रवाह एक ही दिशा में है, यह भी उसने प्रतिपादन किया।

१. दयानन्द

दयानन्द ने इसके विरुद्ध भारतीय संस्कृति के आक्रामक रूप को सामने रखा। उन्होंने न केवल वैदिक विचारधारा का प्रचलित अर्थ से भिन्न एक अर्थ किया और उसे अन्य सब विचारधाराओं, सभ्यताओं, धर्मों और संस्कृतियों पर प्रधानता दी बल्कि अन्य सब प्रचलित मतों के खण्डन में भी विशेष उत्साह प्रदर्शित किया। उनका जन्म सन् १८२४ ई० में काठियावाड़ के मोर्वी में हुआ था। उनका जन्म नाम मूलशंकर था। उनके पिता अम्बाशंकर औदीच्य ब्राह्मण थे। वे शिव के परम भक्त थे तथा धनसम्पन्न होने के

कारण समाज में उनकी प्रतिष्ठा थी।

मूलशंकर बचपन से तीव्र बुद्धि के थे। १४ वर्ष की आयु में उन्हें यजुर्वेद संहिता कण्ठस्थ हो गई थी। घर पर व्याकरण का भी किंचित् अभ्यास कर लिया था। १८३७ में जब शिवरात्रि को अपने पिता के साथ शिवपूजन के लिए मूर्ति के सम्मुख बैठकर जागरण कर रहे थे मूर्ति पर चूहों के चढ़ आने से उन्हें उसकी शक्ति पर सन्देह हो गया। पिता-द्वारा शङ्का का समाधान न होने से वे तुरन्त घर चले आये और व्रत तोड़ दिया। इस घटना के कुछ दिनों बाद उनकी एक छोटी बहिन हैजे में मर गई। इससे जीवन के विषय में वह नाना प्रकार के विचार करने लगे। जब लोग रो रहे थे तब यह गंभीर होकर सोच रहे थे कि इसी तरह सब को एक दिन मरना है। इस मृत्यु से कोई बच नहीं सकता। तब जीवन को श्रेष्ठ कार्यों में लगाना चाहिए और सच्चा ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। वह प्रायः एकान्त में यही सोचा करते थे कि इस मृत्यु की दवा खोजना ही सच्चा पुरुषार्थ है। धीरे-धीरे उनमें निश्चय का उदय हुआ कि चाहे जैसे हो, मृत्यु के मुँह से छुटकारा पाऊँगा और मुक्ति का मार्ग ढूँढूँगा। इस समय वह १८ साल के थे। संयोगवश, दूसरे साल, उनके प्यारे चचा की भी मृत्यु हो गई। चचा इन्हें बहुत प्रेम करते थे। मृत्यु के समय दोनों रो पड़े थे। चचा की मृत्यु ने उनके पूर्व निश्चय को दृढ़ कर दिया। तब से उनकी चंचलता लुप्त हो गई। वे प्रायः गंभीर रहने लगे। इससे माता पिता को बड़ी चिन्ता हुई और उन्होंने उनको विवाह-बंधन में बाँधने का निश्चय किया। विवाह तय हो गया। निमन्त्रण भेज दिये गये। तैयारियाँ होने लगीं। बाजे बजने लगे। मूलशङ्कर ने देखा, बचने का यही समय है। उधर घर में उत्सव हो रहा था, इधर यह संध्या होते ही चुपके से घर से निकल गये। एक ब्रह्मचारी ने उनको दीक्षा दी और गेरुआ वस्त्र धारण कराके उनका नाम शुद्ध चैतन्य रखा। इस समय उनकी आयु २२ वर्ष की

थी। अब वह सच्चे महात्माओं और ज्ञानियों की खोज में चतुर्दिक घूमने लगे। बड़ौदा के चैतन्य मठ में बहुतेरे वेदान्ती ब्रह्मचारी और संन्यासी रहते थे। उन्होंने इन्हें भी अपनी विचारधारा में रँग लिया। कुछ दिन वहाँ रहकर नर्मदा की ओर गये और थोड़े समय तक परमहंस सच्चिदानन्द से ज्ञान प्राप्त किया। उसके बाद चाणोद कर्नाली में परमहंस परमानन्द से वेदान्तसार आदि का अध्ययन किया। हाथ से भोजनादि बनाने में इनका बहुत समय निकल जाता था; अध्ययन की हानि होती थी इसलिए पूर्णानंद सरस्वती से संन्यास की दीक्षा ली। तब से मूलशङ्कर दयानंद सरस्वती हुए।

संन्यासी होने के पश्चात् योगियों और महात्माओं की खोज में पुनः प्रवृत्त हुए। स्वामी योगानंद से योगविद्या सीखी, श्रीकृष्ण शास्त्री से व्याकरण पढ़ा और चाणोद कर्नाली में एक विद्वान् से वेदाध्ययन किया। इसके बाद अहमदाबाद, आबू, हरिद्वार, हृषीकेश, तथा हिमालय के गहन प्रान्तों में घूमते रहे। पर उनकी ज्ञानपिपासा शान्त नहीं हुई। अन्त में विरजानंद नामक एक परम विद्वान् की शिष्यता स्वीकार कर उनसे वेदों का अध्ययन करने लगे। ढाई वर्ष के अध्ययन के पश्चात् इन्हें अपने ऊपर पूरा विश्वास होगया। विदा होते समय गुरु ने गुरुदक्षिणा के रूप में इनसे वैदिक धर्म के प्रचार का वचन लिया और कहा—"बेटा, भारतवासी बड़ा दुःख पा रहे हैं। जाओ, उनका उद्धार करो। नाना प्रकार के मत-मतान्तरों के कारण जो कुरीतियाँ फैली हैं, उन्हें दूर करो। गुरुकुल खोलकर वेदों के पठन-पाठन का प्रबन्ध करो। अपने जीवन को आदर्श बनाओ। बस,मुझे यही गुरुदक्षिणा चाहिए।"

गुरु से विदा हो सर्वत्र घूम-घूमकर मूर्तिपूजा, श्राद्ध, जात-पांत तथा अन्ध-विश्वास का खंडन करने लगे। अनेक स्थानों पर उन्होंने शास्त्रार्थ में

सफलता प्राप्त की। धीरे-धीरे बहुत से लोग उनके अनुयायी हो गये। उनकी तीव्र बुद्धि, उनके त्यागपूर्ण जीवन, उनकी स्पष्टवादिता, उनकी निर्भीकता ने बहुतों को आकर्षित किया। सन् १८७५ ई० में (चैत्र शुक्ल ५, संवत् १९३२ वै०), उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों के प्रचार के लिए बम्बई के गिरगाँव मुहल्ले में आर्य समाज की स्थापना हुई। इसकी सदस्यता के लिए उस समय २८ नियम-उपनियम बनाये गये। किन्तु पीछे केवल दस रह गये जो आर्य समाज के सिद्धान्त माने जाते हैं। दस नियम ये हैं—१. सम्पूर्ण सत्य, विद्या तथा जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उन सब का आदि मूल परमेश्वर है, २. ईश्वर सच्चिदानन्द-स्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनंत, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्ता है। उसकी उपासना करने योग्य है। ३. वेद सत्य विद्याओं की पुस्तक है। वेद का पढ़ना-पढ़ाना, सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है। ४. सत्य ग्रहण करने और असत्य छोड़ने को सदा उद्यत रहना चाहिए। ५. सब कार्य धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य का विचार करके करना चाहिए। ६. संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है—शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना। ७. सब से प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य वर्तना चाहिए। ८. अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिए। ९. प्रत्येक को अपनी ही उन्नति में सन्तुष्ट न रहना चाहिए किन्तु सब की उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए। १०. सब मनुष्यों को सामाजिक सर्व-हितकारी नियम पालने में तत्पर रहना चाहिए।

बहुत दिनों तक धर्म-प्रचार के पश्चात् स्वामी दयानंद का कार्तिक कृष्ण ११ संवत् १९४० वै० (सन् १८८३ ई०) को, दीपावली के दिन, अजमेर में देहान्त हो गया। कहा जाता है कि कुछ दिन पूर्व, जब वह जोधपुर में थे,

उन्हें दूध में विष दिया गया था। उसी के फलस्वरूप उनकी मृत्यु हुई। आर्य समाज के दस नियमों में कोई ऐसी बात नहीं है जो हिन्दू मात्र को मान्य न हो। उसमें कहीं सनातन हिन्दू धर्म के विरुद्ध कोई बात नहीं है। फिर भी आर्य समाज सनातन परम्परा से भिन्न अस्तित्व रखता है और देश के सामाजिक जीवन में उसने बड़ी शक्ति प्राप्त कर ली है। दयानन्द का मुख्य कार्य शिथिल हिन्दू संस्कृति को, जो दब्बू हो रही थी, आक्रामक और ओजस्वी बना देना था। भारतीय जीवन में उनके आर्य समाज के कारण कई समस्याएँ और कठिनाइयाँ भी पैदा हुईं पर सब मिलाकर एक नूतन जागरण, एक आत्म-विश्वास, एक निर्भीकता की सृष्टि हुई। दयानन्द और आर्य समाज भारतीय संस्कृति की क्षात्र वृत्ति के प्रतीक हैं।

२. विवेकानन्द

विवेकानन्द भारतीय सांस्कृतिक जागरण के दूसरे महान् नेता हुए। मोहनिशा में अचेत पड़े भारत में उनकी वाणी शंखनाद की भाँति सुनाई पड़ी। दयानन्द की खण्डनात्मक प्रवृत्तियों से दूर रह कर भी अपने जीवनमय आध्यात्मिक स्पर्श से उन्होंने जो ज्योति जगाई उससे भारतीय चेतना उज्ज्वल और प्रकाशपूर्ण हो गई। वे भारतीय आध्यात्मिकता के चेतन विधायक पक्ष के प्रतिनिधि हैं। उन्होंने न केवल भारत में बल्कि उससे भी अधिक जोर से अमेरिका और युरोप में वेदान्त को सर्वोच्च जीवन-दर्शन के रूप में प्रकट किया।

कलकत्ता के पास, सिमूलिका नामक एक छोटे गाँव में वकील विश्वनाथ दत्त के यहाँ १६ जनवरी १८६३ई०को उनकी पत्नी भुवनेश्वरी देवी के गर्भ से एक पुत्र उत्पन्न हुआ। आरम्भ में उसका नाम वीरेश्वर था पर बाद में नरेन्द्र रखा गया। नरेन्द्र में बचपन से ही एक विशेषता दिखाई पड़ी। उसके खेलों में भी आध्यात्मिकता का रंग था। वह बच्चों के साथ आँख मूँदकर बैठ जाता

और देर तक ध्यान लगाया करता। एक दिन की घटना है कि वह अपने साथियों के साथ छत पर बैठकर ध्यान लगा रहा था। संध्या समय था; आकाश में बादल छाये हुए थे, ठंडी हवाएँ चल रही थीं। सभी लड़के आँख बन्द किये बैठे थे कि वहाँ एक बड़ा साँप फन फैलाये हुए आ गया। एक लड़के के 'साँप-साँप' चिल्लाते ही सब भाग खड़े हुए पर नरेन्द्र का ध्यान न टूटा; वह वैसे ही निश्चल बैठा रहा। जब लड़कों से यह बात जानकर घर के लोग आये तो देखा कि साँप फन फैलाये हुए बालक के सिर पर छाया किये हुए है। कुछ देर बाद साँप चुपचाप चला गया। इसी ध्यान के अभ्यास से वह जो पढ़ते वह उन्हें तुरन्त याद हो जाता। वह पढ़ने-लिखने, खेल-कूद, गाने-बजाने सभी में अन्य बालकों से आगे रहते थे। १८७६ में एंट्रेंस परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास कर कालेज में भरती हुए। वहाँ हर सभा-सोसाइटी और व्याख्यान में भाग लेने लगे। ब्राह्म समाज के सम्पर्क में आने से इनमें धर्म की ओर रुचि हुई। गीता नित्य पढ़ते; अपने ईसाई अध्यापक के घर जाकर धर्म-चर्चा करते। धीरे-धीरे यह नास्तिकता की ओर अग्रसर होने लगे। हक्सले के ग्रंथ इन्हें प्रिय थे। हर्बर्ट स्पेंसर की पुस्तकें पढ़कर इन्होंने उनके सिद्धान्तों की आलोचना लिखी और उनके पास भेजी; जिससे वे बहुत प्रभावित हुए।

उन दिनों बंगाल में परमहंस रामकृष्ण का प्रभाव बढ़ता जा रहा था। वे सिद्ध पुरुष थे। सैकड़ों उनके शिष्य थे। एक दिन इनके पिता के आग्रह से उनके मित्र रामचंद्र दत्त इन्हें परमहंस के पास ले गये। परमहंस उनपर बहुत प्रसन्न हुए। तब से अवकाश के समय वे उनके पास जाकर धर्मचर्चा किया करते थे। धीरे-धीरे वे परमहंस के परम अनुगत हो गये। बी० ए० पास करने पर माँ इत्यादि ने विवाह पर बहुत जोर दिया पर इन्होंने उलटे संन्यासी होने का इरादा कर लिया। यह अधिक समय शास्त्रों, मुख्यतः

वेदान्त, के अध्ययन में लगाने लगे। धीरे-धीरे वह विरक्त होने लगे और अन्त में संन्यास धर्म की दीक्षा ले ली। परमहंस ने इनका नाम विवेकानंद रखा और आदेश किया—"सारे संसार के लोग मोह रूपी अन्धकार में पड़े हैं, उन्हें वेदान्त रूपी प्रकाश देकर शान्ति पहुँचाओ।" १६ अगस्त १८८६ को परमहंस रामकृष्ण ने शरीर-त्याग किया। शरीर-त्याग के पूर्व अपनी सम्पूर्ण साधना और योगशक्ति का उन्होंने विवेकानंद में अधिष्ठान किया। गुरु की शक्ति पा वे उनकी आज्ञा का पालन करने के लिए बाहर निकले। पहले हिमालय में जाकर दो वर्ष तक योग-साधन किया, फिर बौद्धधर्म के अध्ययन के लिए तिब्बत गये और फिर वहाँ से लौटकर भारत के विभिन्न स्थानों में धर्म-प्रचार करते रहे; सैकड़ों आदमियों ने उनकी शिष्यता अंगीकार की। इनमें मद्रास कालेज के एक ईसाई प्रोफेसर मुदालियर भी थे, जिन्होंने इनकी बातों से प्रभावित होकर सारा जीवन ही बदल दिया, संन्यासी हो गये और 'प्रबुद्ध भारत' पत्र निकालकर विवेकानन्द के सिद्धान्तों का प्रचार करने लगे।

लोगों के आग्रह से शिकागो, अमेरिका के सर्वधर्म सम्मेलन में भाग लेने के लिए ३१ मई १८९३ को अमेरिका के लिए प्रस्थान किया। वहाँ पहुँचने पर बड़ी कठिनाइयों के बाद इन्हें सम्मेलन में सम्मिलित होने की आज्ञा मिली पर जब इनका भाषण हुआ तो लोग मुग्ध हो गये। इनका भाषण सब से अच्छा हुआ और उसका खूब प्रभाव पड़ा। फिर तो इनके व्याख्यान सुनने के लिए भीड़ लगने लगी। इनके शब्दों में जादू का सा प्रभाव होता था। कई अमेरिकन इनके शिष्य हो गये। इनमें श्रीमती लुइसा और सैंडर्सबर्ग के नाम प्रसिद्ध हैं, जिनके नाम क्रमशः अभयानंद और कृपानंद रखे गये।

अमेरिका के अनेक नगरों में अनेक भाषण देने के पश्चात् अक्तूबर १८९५ ई० में इंग्लैंड के लिए यात्रा की। वहाँ भी उनके भाषणों की धूम मच गई और अनेक शिष्य बन गये जिनमें मिस मार्गरेट नोबेल प्रसिद्ध हैं। इन्होंने

हिन्दूधर्म ग्रहण करके भगिनी निवेदिता नाम रखा। इनकी अनेक पुस्तकें प्रसिद्ध और लोकप्रिय हैं। दूसरे शिष्यों में जे० जे० गेविन तथा कप्तान सेवियर के नाम भी प्रसिद्ध हैं। कप्तान सेवियर ने हिमालय के मायावती में अद्वैताश्रम स्थापित करने में बड़ी सहायता की थी। इंग्लैंड से पुनः अमेरिका गये और वहाँ वेदान्त धर्म के प्रचार की पूरी व्यवस्था की। वहाँ से लोगों के अनुरोध पर एक बार फिर इंग्लैंड आये। वहाँ अनेक विश्वविद्यालयों और कालेजों में उनके व्याख्यान कराये गये। इनके व्याख्यानों का अत्यधिक प्रभाव पड़ा और भारतीय जीवन की उदात्त कल्पना लोगों पर स्पष्ट हो गई। विदेशों में साढ़े तीन वर्ष भारतीय संस्कृति के सन्देश का प्रचार करने के बाद अनेक शिष्यों के साथ स्वदेश लौटे। और यहाँ भी अनेक स्थानों पर घूम-घूम कर धर्म-प्रचार किया। यह दरिद्रनारायण की सेवा पर बहुत ज़ोर देते थे; इसे ही भगवान् की पूजा का सर्वोत्तम रूप बताते थे। उनकी सेवा के लिए ही इन्होंने रामकृष्ण मिशन की स्थापना की। आज मिशन की शाखाएँ भारत के अनेक भागों में दुःख, रोग, शोक के निवारण का श्रेष्ठ कार्य कर रही हैं।

१८६६ ई० में इन्होंने पुनः इंग्लैंड के लिए यात्रा की। डेढ़ मास तक वहाँ प्रचार करने के बाद अमेरिका गये। अमेरिका में इनको पर्याप्त सफलता मिली। वहाँ लगभग ८ मास तक कार्य करने के पश्चात् फ्रांस गये और वहाँ तीन महीने घूम-घूम कर काम किया। फ्रांस से युरोप के कई स्थानों पर अपना सन्देश सुनाने के बाद, तुर्की और यूनान होते हुए मिश्र गये और वहाँ से भारत लौटे। यहाँ लौटने पर भी इनको तुरन्त काम में लग जाना पड़ा। निरन्तर परिश्रम के कारण स्वास्थ्य गिर गया और ४ जुलाई १९०२ ई० को रात के ६ बजे इन्होंने शरीर-त्याग किया।

विवेकानंद भारतीय ज्ञान की तेजस्विता के प्रतिनिधि हैं। उन्होंने भारतीय

वेदान्त धर्म को पोथियों की शुष्क सिद्धान्त-चर्चा से ऊपर उठाकर समाज के जीवन में उसे फैलने दिया। अंग्रेजी भाषा तथा भारतीय अध्यात्मविद्या पर अधिकार रखने वाले उच्चकोटि के सेवाभावी संन्यासियों का संघटन भारतीय समाज को उनकी विशेष देन है; जिनकी देख-रेख में आज भी इस देश में और अमेरिका में बहुत काम हो रहा है। विवेकानंद में हमारी जातीयता बोलती है; वह एक ओर संकुचित रीतियों और परम्पराओं से मुक्त है और दूसरी ओर उनमें भारतीय जीवन-नीति के प्रति प्रबल श्रद्धा का भाव है। पहली बार उनमें मुक्ति की ओर अग्रसर होती हुई भारत की आत्मा के दर्शन होते हैं।

३–४. अरविन्द और रवीन्द्र

अरविन्द ने भारतीय दर्शन के शक्ति-सिद्धान्त को एक नूतन रूप दिया और विशेष शक्तिसम्पन्न व्यक्तियों की एक नूतन जाति की कल्पना हमारे सामने रखी। उन्होंने भी हिन्दू जीवन को एक क्रान्तिकारी विचार-धर्म की दीक्षा दी। पर उनका धर्म अभी सामाजिक धर्म की रूपरेखा नहीं प्राप्त कर सका है। उसने देश-विदेश के अनेक विचारकों एवं मनीषियों को अपनी ओर आकर्षित किया है पर वे अपनी साधना में रत हैं और देश या समाज के क्रियात्मक जीवन से अलग हैं।

रवीन्द्रनाथ में भारतीय संस्कारों का साहित्यिक पक्ष प्रकाशित हुआ। उनमें पश्चिम के भी अच्छे संस्कारों की रेखा है पर उनका जीवनाधार शुद्ध भारतीय है। उपनिषद् की ज्योति से प्रकाशित और श्रेष्ठ मानवी उदारताओं और अनुभूतियों से अलंकृत उनके साहित्य ने भारत के पुनर्जागरण में बड़ी सहायता की है। उनमें हमारी सांस्कृतिक, सामाजिक, बौद्धिक, आध्यात्मिक प्रेरणाओं को वाणी प्राप्त हुई। आधुनिकता का प्रकाश, सामाजिक विद्रोहों का प्राणोन्मेष, प्राचीन संस्कृति की सर्वग्राही कल्याण-भावना, जीवन का ओजस्वी स्वर सब उनमें अभिव्यक्त हैं। उनके उपन्यासों में भारतीय सामाजिक

जीवन की विविध समस्याओं का निरूपण है; उनके काव्य में भारतीय हृदय की भावप्रवणता ऊपर उठी है; उनकी कहानियों में हमारी कल्पना की विदग्धता है; उनके नाटकों में हमारे मूर्च्छित जीवन के प्रति दुःख और आत्म-व्यंग है; उनके निबन्धों में हमारी विचार-शृंखला है; उनके चित्रों में मानवता की आन्तरिक वेदना का उच्छ्वास है। उनका सम्पूर्ण साहित्य भारतीय हृदय की वाणी है जिसमें पश्चिम है पर हमें नष्ट करके नहीं।

५—६. लोकमान्य तिलक और मालवीय जी

लोकमान्य तिलक ने गीताधर्म की दीक्षा देकर सहस्रों व्यक्तियों को जीवन के कर्म-मार्ग में बढ़ाया। उन्होंने वेदों तथा आर्य जाति की प्राचीनता के सम्बन्ध में कुछ मौलिक अन्वेषण किया। और भारतीय जातीयता को विद्रोह का प्राणोन्मेषक स्वर प्रदान किया। उन्होंने भारतीय जीवन की स्वतन्त्रता के लिए जीवन भर प्रयत्न किया। उनमें ब्राह्मण के त्याग के साथ क्षत्रिय का ओज भी है। उनका जीवन सच्चे लोकधर्म की प्रतिष्ठा में बीता। गहरी विचारशक्ति तथा जीवन-धर्म के लिए कष्ट सहने की तत्परता और तेजस्विता भारतीय जीवन को उनकी मुख्य देन है। गीता पर उनका भाष्य अत्यन्त लोकप्रिय है और उन्होंने उसे स्वयं ही कर्मयोगशास्त्र नाम दिया है। गीता के इसी तत्व—फलासक्ति छोड़कर निरन्तर कार्य करना—को उन्होंने हृदयंगम किया था और इसी को उन्होंने निरन्तर अपने जीवन में प्रकट किया।

पं० मदनमोहन मालवीय को 'महामना' के नाम से पुकारा जाता है। कदाचित् ही किसी नेता को मिली उपाधि उसके साथ इतना न्याय करती हो। वह भारतीय संस्कृति की दयाभावना, कोमलता, के प्रतिनिधि हैं। लोकमान्य की भाँति ही वह हिन्दू समाज-व्यवस्था के पुजारी हैं और सामाजिक स्तर पर उनमें आधुनिक युग के विद्रोह के स्वर को अपनाने की प्रवृत्ति

नहीं है फिरभी वह कर्मकांडयुगीन हिन्दू संस्कृति के सर्वोत्तम प्रतिनिधि हैं: सहानुभूति में अत्यन्त उदार, हृदय में स्वच्छ, त्याग और तपस्या की वृत्तियों में श्रेष्ठ पर परम्पराओं और आचारों में निश्चल। नवीन भारतीय जीवन की पार्श्वभूमि पर वह आचरणप्रधान पारम्परिक हिन्दू संस्कार के प्रतिनिधि हैं। और अपने जीवन में सदा इसे आगे बढ़ाने का कार्य उन्होंने किया है। स्वच्छ जीवन और श्रेष्ठ चरित्र उनकी विशेषता है।

७. गांधीजी

आधुनिक समय में किसी भी आदमी ने भारतीय कल्पना पर इतना बहुमुख और व्यापक प्रभाव नहीं डाला जितना गांधी जी ने। उन्होंने भारतीय जीवन के किसी भी क्षेत्र को अछूता नहीं छोड़ा है। सच पूछिए तो आधुनिक भारत को उनकी सांस्कृतिक देन अपूर्व है। जो जीवन आधुनिक सभ्यता के प्रभाव में मूर्छित था, उसे उन्होंने उसके बन्धनों से मुक्त किया। उन्होंने हमें यह दीक्षा दी कि शक्ति का स्रोत अपने ही अन्दर है; इसलिए आत्मशुद्धि हमारा प्रथम कर्तव्य है। उन्होंने हमारे जीवन को पहली बार आत्म-परिचय का स्वर प्रदान किया। उन्होंने आधुनिक समय में पहली बार लोकजीवन तथा शासन में ब्रह्मबल या त्याग, तप और साधुत्व की प्रधानता की प्राचीन आर्यजीवन-नीति की घोषणा की और उसे क्रियात्मक रूप प्रदान किया। उनका समग्र जीवन नास्तिक वृत्तियों के विरुद्ध एक निरंतर संघर्ष का जीवन है। वह हिंसा की आग में जलती दुनिया के सामने एक शाश्वत सिद्धान्त—'केवल सत्य ही अन्त में टिकता है'—के प्रतीक हैं। वे हमारे जीवन में बढ़ती हुई नास्तिकता के विरुद्ध एक चुनौती—एक 'चैलेंज' के समान हैं। जब धन हमारा केन्द्रबिन्दु हो रहा है, और जब तुच्छ स्वार्थ, लोभ और दैन्य ने हमें अपने प्रति अविश्वस्त और मूर्छित कर रखा है, तब मानों वे हमें पुकार कर कहते हैं—तुम मनुष्य हो, तुममें ईश्वरांश है, तुम अपने

ईश्वरत्व को भूलकर नहीं चल सकते, तुम्हें अपने पशुत्व से ऊपर उठना ही पड़ेगा।

विवेकानन्द की भाँति उन्होंने न केवल दरिद्रनारायण की सेवा की दीक्षा हमें दी बल्कि उनके उत्थान का व्यापक कार्यक्रम भी बनाया; जितने पीड़ित शोषित वर्ग हैं सब के प्रति उनकी तीव्र सहानुभूति है क्योंकि उनकी अवस्था भारतीय संस्कृति के उत्थान और भारतीय जीवन के विकास में एक बड़ी बाधा है। उनकी पहली देन हमारे जीवन को सत्य, अहिंसा, अभय अर्थात् आध्यात्मिक एवं नैतिक संस्कारों की दीक्षा देना है; जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उन्होंने अभय को बढ़ाया है; उनकी दूसरी व्यावहारिक देन सेवा की सामूहिक भावना को बढ़ाना है। उन्होंने समाज, राजनीति, शिक्षा सभी क्षेत्रों के लिए सेवाभावी शत-शत कार्यकर्ता उत्पन्न किये। लोकसेवक में त्याग और नैतिक बल पर उन्होंने सर्वाधिक जोर दिया। उनकी तीसरी देन यह है कि उन्होंने भारतीय जीवन में व्यापक चैतन्य की उद्भावना की।

उनके मुख से, उनके कार्यों की भाषा में, हमने सदियों बाद फिर सुना कि मनुष्य केवल रोटी खाकर ही नहीं जी सकता। उन्होंने मानव की तात्विक श्रेष्ठता में, ईश्वर में, सत्य में हमारी आस्था उत्पन्न की और कहा कि किसी भी मूल्य पर आत्मा बेची नहीं जा सकती। उन्होंने व्यक्तिगत जीवन की पवित्रता के सिद्धांत की स्थापना की और आत्मविस्मृति के प्रवाह को रोक कर हमें उदात्त जीवन की दीक्षा दी। गांधी जी भारतीय संस्कृति के सर्वग्राही चैतन्य के प्रतिनिधि हैं।

इनके अतिरिक्त और भी कितने ही विचारक, विद्वान् तथा साधु पुरुष इस देश में ऐसे हुए हैं जिन्होंने हमारी विस्मृत सभ्यता और संस्कृति के आदर्शों की ओर हमें अग्रसर किया है; हमारे अन्दर उसके प्रति कर्तव्य-पालन का भाव जाग्रत किया है। इनमें एक का नाम लिये बिना यह निबन्ध अधूरा

रहेगा। आधुनिक समय में भी, भारत में, भारतीय दर्शन के एक से एक विशेषज्ञ हुए हैं और आज भी हैं पर स्वामी रामतीर्थ की भाँति किसी ने उसे अपने जीवन में व्यक्त नहीं किया। रामतीर्थ ने जिस वेदांत धर्म की दीक्षा दी उसमें शुष्क वा जटिल आध्यात्मिकता नहीं; उनका वेदान्त हँसता, हमारे हृदय को रसपूर्ण करता, आनन्द की धारा के समान प्राणोन्मेषकारी है। उनमें भारतीय संस्कृति का सत्य, चैतन्य और आनन्द तीनों एकत्र दिखाई पड़े। सदा हँसते हुए, सदा खिले फूल की भाँति प्रसन्न, सदा आनन्द से मुखरित, उनमें सच्चे धर्म का शाश्वत आनन्द व्यक्त हुआ है। अमेरिका में, जापान में, भारत में, जब वह जहाँ गये प्रकाश और शक्ति, चैतन्य और आनन्द की धारा उन्होंने बहाई। वह एक चेतन पुरुष की भाँति सब बन्धनों से मुक्त थे और जहाँ जाते लोगों को सामान्य जीवन-धारणाओं से ऊपर ही उठाते थे।

दयानंद, विवेकानंद, रामतीर्थ, अरविन्द, रवीन्द्र, तिलक, मालवीय, और गांधी सब भारतीय संस्कृति के पुनर्जागरण के दिव्य सन्देश-वाहक हैं। इन्होंने हमारी सभ्यता और मूल भारतीय जीवन की कल्पना को जगाने का बड़ा भारी काम किया है।

———